सेठिया जैनग्रन्थमाला पुष्प नं० ३९

श्री गुलाब-वीर-ग्रन्थमाला-रत्नद्वितीय

कर्त्तव्यकौमुदी-द्वितीयग्रन्थ

हिन्दी-भाषानुवाद सहित

रचयिता-

लींबडी-सम्प्रदायके शतावधानी

पं० मुनि-श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामी।

प्रकाशक-

भैरोंदान जेठमल सेठिया

बीकानेर (राजपूताना)

सेठिया-जैन ग्रंथालय (बीकानेर) की ओर से भेट

प्रथमावृत्ति 3000 प्रति	वीर सं० २४५१ विक्रम सं० १९८१ ई० १९२५	मूल्य पाच आने, आर्टपेपर पक्की जिल्द आठआने

“वसत मुद्रणालय’मा चीमनलाल ईश्वरलाल म्हेताए छाप्यु
सीवील इस्पीतालनी सामे—अमदावाद

श्रीमान् अगरचंद भैरोंदान सेठिया की
जैनपारमार्थिक सस्थाएँ

बीकानेर.

निम्न लिखित सस्थाएं मूल धन (Capital ध्रौव्य फण्ड)का जो २००००) बीस हजार रुपया वार्षिक व्याज तथा मकानभाडा आताहै उससे चल रही हैं। मूल धनके सिवा सस्थाओंके लिए एक विशाल भवन (बिल्डिंग) भी दिया गया है। इस समय कार्यक्षेत्र विस्तृत करदेनेसे खर्चभी बढगया है, श्रीमान् सेठ साहबने उसकी पूर्ति करने की उत्साह पूर्वक उदारता दिखाई है। मूल धन (ध्रौव्य फण्ड) और बिल्डिंगके ट्रस्टी आपके सुविनीत उत्साही ज्येष्ठ पुत्र श्रीयुत जेठमलजी कर दिये गये हैं।

निम्न लिखित सस्थाओंमें पण्डित अध्यापक (मास्टर) अध्यापिका लेखक तथा अन्य कर्मचारी सब मिलकर वर्तमानमें २५ जैन और १० अजैन कुल ३५ व्यक्ति कार्य कर रहे हैं।

विद्यालय (स्थापित विक्रम स. १९७०).

इस विद्यालयमें छात्रोंको हिन्दी, अंग्रेजी, महाजनी (वाणिका) धर्मशास्त्र सस्कृत व्याकरण न्याय साहित्य अलङ्कार छन्दशास्त्र प्राकृतआदिका अध्ययन कराया जाता है, तथा कलकत्ता गवर्नमेन्ट सस्कृत कालेज आदिकी परीक्षा भी दिलाई जाती है। प्रिन्टिग प्रेस (छापखाना) का तथा व्यापार लाइन का काम भी सीखनेकी इच्छा

वालोंको सिखाया जाता है। मेट्रिक या इससे अधिक अंग्रेजीकी योग्यता वाले जन विद्यार्थी यदि धार्मिक संस्कृत प्राकृतका अध्ययन करना चाहते हों तो उनके लिये, और अनाथ निराधार जैन बालकोंके लिए रहनेको स्थान भोजन, वस्त्र आदिका प्रबन्ध कियाजाता है।

श्राविका–पाठशाला

इस पाठशालामें श्राविकाओंको हिन्दी धार्मिक नैतिक व्यावहारिक शिक्षा तथा सीनापिरोना कसीदा करना गोटा किनारी बनाना आदि सिखाया जाता है।

ग्रन्थालय (स्थापित विक्रम सं १९७८)

इसमें हस्तलिखित-जैनशास्त्र संस्कृत प्राकृत, पाली, हिन्दी, गुजराती, अंगरेजी पुस्तकोंका संग्रह बडी खोजसे कियाजाता है, कई मासिक तथा साप्ताहिक समाचारपत्र मगाये जाते हैं, जो वाचकोंको विनाफीस बाचनेको मिलते है। इस ग्रन्थालयमें विद्वान् जैनसूत्र सिद्धान्तोंका संशोधन तथा हिन्दी अनुवाद करते हैं। लेखकोंसे सूत्र सिद्धान्तोंकी प्रतियां लिखाई जाती हैं, तथा प्राचीन प्रतियोंसे मिलान किया जाता है। इस ग्रन्थालयसे जैन धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं जिनका मूल्य लागतसे भी कम रक्खा जाता है, तथा कुछ पुस्तकें अमूल्य भी वितरण की जाती हैं। इस ग्रन्थालयसे दीक्षाभिलाषियोंको स्वाध्याय तथा कण्ठस्थ करनेके लिए दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नमिपवज्जा महावीर जिनस्तुति (पुच्छिसुण) आदि ग्रन्थालयसे प्रकाशित हुई पुस्तकें मगानेसे नाम पता पुरा स्पष्ट अक्षरोंमें आनेपर एक एक प्रति भेंट भेजी जाती है। इस स्थानमें

दीक्षाभिलाषी (वैरागी भाई और वैरागिन बाई) को दीक्षा का समय निश्चित होनेपर वस्त्र पात्र रजोहरण आदि दीक्षाके उपकरण और हस्तलिखित मूलपाठ-दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, सुखविपाक आदि संशोधन की गई प्रतियाँ, तथा कई एक ग्रन्थालयसे छपी हुई पुस्तकें विना मूल्य मिलती हैं। इस संस्थाद्वारा-जैन लायब्रेरी (जैन पुस्तकालय) सभा, मण्डल, ज्ञानभण्डार पौषधशाला उपाश्रय आदि ऐसे स्थानों में जहां जैनधर्मकी पुस्तकोंका संग्रह होता हो, वहांपर इस ग्रन्थालयसे निकली हुई पुस्तकें मगवानेसे जो विनामूल्यको उपलब्ध पुस्तकें हैं उनमेंसे एक एक प्रति अमूल्य और मूल्यवाली पुस्तकें आधे मूल्यसे वी पी द्वारा भेजी जाती हैं। इस संस्थासे जहांपर जैन धर्म की पढ़ाई होती है ऐसे विद्यालय अनाथालय पाठशाला श्राविकाश्रम आदि संस्थाओं को ग्रन्थालयसे प्रसिद्ध हुई सामायिक तथा प्रतिक्रमणसूत्र की पुस्तकें मगानेपर आधी कीमतसे वी पी द्वारा भेजी जाती हैं, और इनके साथ अध्यापक तथा अध्यापिकाओं के लिए एक एक प्रति भेंट भेजी जाती है।

विक्रम सं० १९८१ पौष शुक्ल ३

निवेदक—
व्याकरणाचार्य न्यायतीर्थ—
पं० रमानाथ जैन शास्त्री
सेठिया जैनग्रन्थालय
बीकानेर, (राजपूताना)

उपोद्घात व निवेदन.

संसारके प्राणीमात्रमें मानव जीवन सर्वांश माना गया है, क्योंकि मनुष्यमें ऐसी स्वाभाविकशक्ति विद्यमान है कि यदि वह अपने कर्तव्यका पूर्णतया पालन करता रहे तो धीरे धीरे अपने कुटुम्बका अपनी जातिका अपने देशका अभ्युत्थान कर सकता है, तथा आत्माकी शक्तिका पूर्ण विकाश होनेपर सम्पूर्ण विश्वका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकता है। उसी सर्वार्थ-साधक कर्तव्यको दिखानेवाले इस कर्तव्यकौमुदीनामक ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद करवाकर प्रकाशन करता हुआ मैं अपने जीवनको कृतार्थ समझता हूं। ग्रन्थका सार व इसके नामसे विदित होता है। इस ग्रन्थके कर्ता लींबडी-संप्रदायके श्री श्री १००८ शतावधानी पं० रत्नचन्द्रजी महाराज हैं। आपका जन्म सं० १९३६ वैशाख शुक्ल १२ के दिन वीसा ओसवंश (वीसा ओसवाल जाति) में हुआ तथा पूज्यपादश्री १००८ मुनिश्री गुलाबचन्द्रजी स्वामीके पास सं १९५३ ज्येष्ठ शुक्ल ३ के दिन पवित्र दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करनेके बाद आपने शीघ्रही संस्कृतका अध्ययन प्रारम्भ करदिया और सिद्धान्तचन्द्रिका सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, मनोरमा, पंचमहाकाव्य अलंकार साहित्य, नाटक आदिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके, न्यायविषयका तर्कसंग्रहसे लेकर जगदीशगदाधरके बाध-अनुमिति ग्रन्थ तक भली भांति अध्ययन किया। पश्चात् सांख्यदर्शन, पातंजलदर्शन प्राकृतभाषा आदिका ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होनेपर सं० १९६६ से व्याख्यान

देना और अवधान करना प्रारम्भ कर दिया, और भाव-पूर्ण तात्विक गुजराती, संस्कृत, प्राकृत तथा अर्धमागधी भाषामें अनेक ग्रंथ रचकर जन-समाजका बड़ा भारी उपकार किया है। सं० १९८० में अहमदाबादके चातुर्मासमें इस कर्त्तव्यकौमुदी द्वितीय ग्रन्थकी रचना की, तथा सं० १९८१ में वढवाण केम्पके चातुर्मासमें जैन-सिद्धान्तकौमुदी (अर्धमागधी-व्याकरण), प्राकृत पाठावलि, अर्धमागधी-धातुरूपसंग्रह और प्राकृतधातुसंग्रह इन चार ग्रन्थोंकी रचना की और काठियावाड देशके उमरडा नामक ग्राममें समाप्ति की। ज्ञान-वृद्धिके लिये इस संस्था (सेठिया-जैनग्रन्थालय) को देनेकी उदारता की है जोकि इसी सेठिया जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित होनेवाले हैं। वर्तमानमें आप चार मुनीश्वरोंके साथ (पांचठाणे) विचर रहे हैं। महाराजश्रीने इस ग्रन्थकी रचना करके सम्पूर्ण जनताका महान् उपकार किया है। यह अनुपम ग्रन्थ जैन जैनेतर, स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध सबको लाभदायक है। हमें पूर्ण विश्वास है कि विद्वत्समाजमें इसका पूर्ण आदर होगा। इस कर्त्तव्यकौमुदी नामक ग्रन्थके दो भाग हैं। पहला भाग गुजराती तथा हिन्दी भाषामें विवरण सहित अनुवाद पहले प्रकाशित हो चुका है, गृहस्थ-कर्त्तव्यका प्रतिपादक यह प्रथमभाग तीन खण्डोंमें विभक्त है। प्रथम खण्डमें कर्त्तव्य के लक्षण, अधिकारी, काल, क्षेत्र, व्यवस्था आदि दिखाते हुए ग्रन्थकार महोदयने कर्तव्यके बाधक-क्रोध, मात्सर्य-निन्दा दुर्भाषण आदिके परिहारका तथा प्रतिज्ञानिर्वाहका विवेचन गंभीरता पूर्वक किया है। द्वितीय खण्डमें गर्भावस्था में बालकके संस्कारकी उत्पत्ति सन्तानपर माताकी शिक्षा का प्रभाव, बाल्य शिक्षा, ब्रह्मचर्य, आरोग्यके नियम, आज्ञा

पालन सहाध्यायी बालकोंके साथ सद्वर्तन इत्यादि विद्यार्थियोंके कर्तव्य तथा १ द्यूतक्रीडा, २ मांसाहार, ३ सुरापान ४ वेश्यागमन, ५ परस्त्री लाम्पट्य, ६ चोरी, ७ शिकार, आदि छोटे बडे व्यसनोंका निषेध विद्वत्ता पूर्वक किया है। तीसरे खडमें सासु ससुर, पतिआदिके साथ स्त्रीका कर्तव्य विधवाकर्तव्य, कन्याविक्रय-निषेध कृतज्ञता, परोपकार, उदारता, सहनशीलता इत्यादि मानव धर्मका सार गर्भित विवेचन बडी गहरी दृष्टिसे कियागया है। कर्तव्यकौमुदीका द्वितीय भाग (ग्रन्थ) आपके हस्तगत है। यह ग्रन्थ दो खण्डोंमें विभक्त है, पहले खण्डमें गृहस्थका कर्तव्य और दूसरेमें साधुका कर्तव्य बडी उत्तम शैलीसे विवचन किया गया है। प्रथम खण्डमें सेवाधर्म, मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ ग्रामीणशाला, विद्यालय छात्राश्रम शिक्षापद्धति चिकित्सालय, अपागसेवा विधवाश्रम पशुरक्षणशाला, (पिंजरापोल) आदिकी पूर्ण आवश्यकता दिखाते हुए महाराजश्रीने वृद्धविवाह विधवाविवाहका सयुक्तिक निषेध और स्वदेशसेवा आदि गृहस्थके मुख्य मुख्य कर्तव्योंका हृदयग्राही मर्मस्पर्शी वर्णन अनुपम शैलीसे कियाहै तथा द्वितीय खण्डमें मुनिधर्म (सन्यासोंके कर्तव्य) का विवचन नूतन प्रणालीसे उत्तम प्रकार किया है। इस ग्रन्थको पढ़तेही मनुष्य मात्रके हृदयमें कर्तव्य-पालनके भाव जागृत हो जाते है। ऐहलौकिक व पारलौकिक सुख प्राप्त करनेकी आकांक्षा रखनेवालोंको सन्मार्ग-प्रदर्शक इस अनुपम ग्रन्थका अवलोकन करना परमावश्यक है तथा निर्दिष्ट विषय स्वदेश सेवा अहिंसा आदिका अनुशीलन तथा पालन कर मानवजीवनको समुन्नत बनाना चाहिये। कहातक कहा जाय आधुनिक

आचरणीय कर्तव्यका प्रतिपादक यह ग्रन्थ अपने ढगका एकही है। महाराजश्रीने समस्त जनताकी हितकामनासे इसको सरल भाषामें बनाया है। हमारी आन्तरिक भावना है कि मनुष्य मात्र इससे लाभ उठावें। हमारी इच्छा पुस्तकका मूल्य रखनेकी नहीं थी, किन्तु कई सज्जनोंके आग्रह करनेपर तथा बिनामूल्यकी पुस्तकका योग्य आदर न देखकर लागतसेभी कम मूल्य रक्खा गया है सो भी ज्ञान प्रचारमें ही लगेगा।

स्थान बीकानेर
स० १९८१ पौ० शु० ३

निवेदक
भैरोंदान जेठमल सेठिया

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड.

है	हैं	५०	१७
सक्ती	सक्तीं	५१	३
स्वीयजने	नजेजने	५१	११
इसलिय	इसलिये	५१	१०
मचरित	मचरित्र	५२	७
करना	करनी	५३	१९
वृद्धनामा	वृद्धानामा	५४	६
पशु(पक्षि)	पशुपक्षि	५६	८
हो	हों	५७	१२
चाहिये	चाहियें	५७	१३
कि तूत्तम	किन्तूत्तम	५९	१७
चाहिये	चाहिये	६०	३
जातिप	जातिने	६२	६
वा	वा	६३	११
मश्चलमना	चश्चलमना	६३	२०
कुले	कु[illegible]	६४	१७
धनजायें	धनजाय	६६	८
समयाचित	समयोचितं	६६	१६
११८	११४	६८	५
सुखेप्रा	मधप्रा	६८	१९
ममताम्यीये	ममतामाम्ये	६९	१९
गृहीतु	ग्रहीतु	७७	१६
नथा	था	८०	५

अर्हीसा	अहिंसा	८०	१२
भयने	भयेन	८०	१६
गुह्णीया	गृह्णीया	८१	९
स्यचिदहो	क्यचिदहो	८१	९
मेथुन	मैथुन	८१	१०
पिन्तु	तथा	८१	१७
मानुगा	मानुगा	८४	१२
चाहिय	चाहिये	८५	७
योल्ने में	बोल्ने म	८६	१९
योलना	योलनी	८७	११
चाहिय	चाहिये	८८	५
योल	याले	८८	६
प्राप्त	प्राप्तहुए	९१	१८
का	के	९२	१६
साध्वियां	माध्वियाँ	९४	१९
माधुना	माधूना	९५	१८
काट	काठ	९७	१९
लिय	लिये	१००	२
श्रत्या	श्रुत्या	१००	७
आदिकी	आदिका	१००	१०
सुभीत	सुभीते	१००	१२
शाधूना	माधूना	१०१	१५
गर्भितेहै	गर्भितहै	१०२	२०

समस्त विश्व दर्पणमें देहके प्रतिबिम्बकी तरह स्पष्ट झलकता है, उस ज्योतिको मैं मन-वचन-और कायसे अपनी इष्ट सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

पूर्वोत्तरग्रन्थसम्बन्ध ।

पूर्वार्द्धे वयसोर्द्वयो॰ प्रथमयो-र्नीति समालोचिता,
सद्योऽथ समयस्तृतीयवयस॰ कर्त्तव्यसद्दर्शने ।
विद्या येन समर्जिता धनमपि प्राप्तं कुटुम्बोचित,
तेनातःपरतया परार्थनिरतं कार्यं निजं जीवनम् ॥ २ ॥

प्रथम भ्र थका इस ग्रन्थसे सम्बन्ध ।

भावार्थ— पहिली और दूसरी अवस्था में आचरण करने योग्य नीति अर्थात् कर्त्तव्य कर्मका विचार प्रथम भागमें किया गया है । अब तृतीय अवस्था में पालन करने योग्य कर्त्तव्यकर्म की व्याख्या करनेका अवसर प्राप्त है । जिस पुरुषने विद्या प्राप्त की तथा कुटुम्बपालन योग्य धन भी सग्रह किया, उसे अब अपना जीवन परमार्थ में ही बिताना चाहिये ॥ २ ॥

तृतीयचतुर्थवयसो कर्त्तव्यतारतम्यम् ।

अभ्यासार्थमिदं चतुर्थवयसो नूनं तृतीयं वयो,
यत्तत्र च सर्वथा भवति तद्देशेन भाव्यं त्विह ।
प्रायस्तत्र महाव्रतानि विषयत्याग कुटुम्बं जगत्,
साध्या यत्र लघुव्रतानि विरतिं स्थूला समाजं कुलम् ॥३

तीसरी और चौथी अवस्था के कर्तव्यका तारतम्य।

भावार्थ—तीसरी अवस्था, चौथी अवस्था के कर्तव्यका अभ्यास करनेके लिये है, क्योंकि चौथी अवस्था में जो कर्तव्य सर्वथा अर्थात् परिपूर्ण पालन कियाजाता है वह तीसरी अवस्थामें एक देश अर्थात् परिमितरूप आचरण कियाजाता है, चतुर्थवयमें समस्त विषयों का त्याग सम्पूर्ण संसारको कुटुम्ब समान मानकर महाव्रत धारण किया जाता है। तीसरी वयम स्थूल पापों से निवृत्त होकर समाज को कुटुम्बसमान समझने पर अणुव्रतका साधन होता है ॥ ३ ॥



प्रथमखण्ड.

प्रथम परिच्छेद ।

सम्यग्दृष्टि ।

सम्यग्दृष्टिविलोकितं हि सकलं सद्धर्मकृत्यं भवेत्,
सम्यग्दृष्टिरुदाहृता जिनवरैस्तत्त्वार्थरुच्यात्मिका ।
सद्देवः सुगुरुः सुधर्म इति सत्तत्त्वत्रयं कथ्यते,
ज्ञात्वा तत्परमार्थतः कुरु रुचिं तत्त्वत्रये निर्मले ॥४॥

सम्यग्दर्शन का स्वरूप ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनपूर्वक कियागया समस्त आचरण सम्यक् चारित्ररूप होता है, जिनेन्द्र भगवानने तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्श कहा है वीतरागदेव, परिग्रहरहित गुरु और दयामय धर्म ये ती सम्यक्तत्त्व हैं इन तीन निर्मलतत्त्वों का वास्तविक स्वरूप जान श्रद्धा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

देवगुरुधर्मलक्षणम् ।

देवः कर्मचतुष्टयक्षयकरः सद्धर्मसंस्थापको,
रागद्वेषविघातकस्त्रिजगतां चेतश्चमत्कारकः ।
निर्ग्रन्थः समदृग् महाव्रतधरश्चैकान्तनिष्ठो गुरु-
र्धर्मः क्षान्तिदयादिसद्गुणमयो रत्नत्रयद्योतकः ॥५॥

देव गुरु और धर्मका लक्षण।

भावार्थ—रागद्वेषका सर्वथा क्षय करनेवाला अर्थात् वीतराग, ज्ञानावरण आदि चार घातीकर्मका नाश करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञ और सच धर्मका प्रवर्त्तक अर्थात् हितोपदेशी, एव अलौकिक आत्मप्रभावसे तीनलोक के जीवोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाला सत्यदेव है। चित्तको वशमें रखनेवाला अर्थात जितेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि महाव्रतधारण करनेवाला परिग्रहरहित सद्गुरु है। और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयका प्रकाश करनेवाला क्षमा दया आदि सद्गुणोंका भण्डार सत्यधर्म है ॥ ५ ॥

धर्ममाहात्म्यम्।

धर्मः कल्पतरुर्मणिर्विषहरो रत्न च चिन्तामणि-
धर्मः कामदुघा सदा सुखकरी सञ्जीवनी चौषधिः।
धर्मः कामघटश्च कल्पलतिका विद्याकलाना खनिः,
प्रेम्णैन परमेण पालय हृदो नोचेद्वृथा जीवनम् ॥६॥

धर्मका माहात्म्य।

भावार्थ—धर्म वृक्षोंमे कल्पवृक्ष, मणियो में विषहरण मणि और रत्नोंमे चिन्तामणिरत्न–समान है, पशुओं मे कामधेनु और औषधियो में सञ्जीवनी औषधि समान सदा सुखदायी है, पात्रों मे कामघट लताओं मे कल्पलता और विद्या तथा कलाओंकी खानि है इसलिये इसे परम प्रीति पूर्वक हृदयसे पालन करना चाहिये इसके विना जीवन निष्फल है ॥ ६ ॥

धर्मफलम्।

धर्मः कृन्तति दुःखमुन्नतसुखं दत्ते समाधुद्भवं,
दुष्कर्माणि रुणद्धि शक्तिमतुलां मादुष्करोत्यात्मनः।
ज्ञानज्योतिरपूर्वमर्पयति स स्वर्गापवर्गप्रदः-
स्तन्नास्तीह महत्समुन्नतिपदं यन्नैव दद्यादयम् ॥७॥

धर्मका फल।

भावार्थ—धर्म दुःखोंका नाश करके शान्तिसमाधि से उत्पन्न हुए अत्युत्तम निराकुल सुखको देता है, दुष्कर्मों को रोककर आत्मा में अतुल सामर्थ्य उत्पन्न करता है, ज्ञानज्योतिको बढ़ाकर स्वर्ग और मोक्ष को देता है, इस लोकमें ऐसा कोई उत्कृष्ट उन्नतिपद नहीं है जो कि धर्मसे प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् समस्त उत्कृष्टपद को देनेवाला एक धर्म ही है ॥ ७ ॥

द्वितीय परिच्छेदः।

सम्यक्चारित्रे

व्रतपालनम्।

विज्ञाय व्रतलक्षणानि निकटे शास्त्रार्थवेत्तुर्मुने-
*रानन्दो निखिलव्रतानि जगृहे भो! स्वीकुरु त्वं तथा।

*नोट-आनन्द-आनन्दनामा श्रावको यः श्रीमहावीर प्रभुसमीपे द्वादश व्रतानि जग्राह।

भा० आनन्दनामक श्रावकने महावीरस्वामी के समीप बारह व्रत धारण किये।

शक्तिर्नो यदि तावती प्रथमतः सोत्साहमङ्गीकुरु,
पञ्चाणुव्रतकानि धर्मविधिना सम्यक् समीपे गुरोः ॥८॥

सम्यक्चारित्र-प्रकरणमें व्रतका पालन।

भावार्थ—हे भव्य ! शास्त्रके रहस्यको जाननेवाले मुनिसे व्रतों के लक्षण मिलर जानकर जिस प्रकार आनन्द नामके श्रावकने समस्त व्रतोंको अच्छी तरह समझकर धारण किया, उसी प्रकार तुम भी अङ्गीकार करो। यदि इस समय सम्पूर्ण व्रत ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है तो प्रथम गुरु के समीप पंच अणुव्रतको उत्साह सहित विधि पूर्वक सम्यक्प्रकार अङ्गीकार करो ॥ ८ ॥

अहिंसाव्रतम्।

रक्ष्या यद्यपि सर्वजीवनिवहास्तत्रापि जीवास्त्रसा–
वैशिष्ट्येन हि तद्वधेऽतिदुरितं तस्मान्निहन्यान्न तान्।
नाप्यन्येन विघातयेत्कथमपि व्यर्थं न च स्थावरान्,
हिंसात्याग-विधायकं व्रतमिदं धर्मेच्छया पालयेत् ॥९॥

अहिंसाव्रत।

भावार्थ—यद्यपि मनुष्यमात्रको त्रस और स्थावर सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करनी चाहिये। तौभी चलने फिरनेवाले त्रसजीवोंकी विशेष रूपसे रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि त्रसजीवोंकी हिंसासे भयंकर पाप उत्पन्न होता है। इसलिये इन जीवोंकी हिंसा कदापि स्वयं न करे, और न दूसरोंसे करवावे। विशेष कारण बिना व्यर्थ स्थावर एकेन्द्रिय-जीवोंकी भी हिंसा न करे, इस हिंसा-त्यागरूप अहिंसाव्रतको धर्मबुद्धिसे पालन करना चाहिये।

अहिंसाव्रतपालनम् ।

पापर्द्धि, पललाशन च मदिरापान निषिद्ध यतो—
हिंसातस्त्रसदेहिना नियमतस्तत्र व्रतभ्रंशनात् ।
यद्वस्तु त्रसहिंसया समजनि त्याज्य च तत्सर्वथा,
स्याद्बन्धाद्यतिचारदोषरहित सेव्य तथाऽऽद्य व्रतम् ॥१०॥

अहिंसाव्रतकी पालना ।

भावार्थ—शिकार मासभक्षण और मदिरापान इन तीनोंका शास्त्रमें निषेध है, क्योंकि इनके सेवनसे त्रसजीवोंकी हिंसा अवश्य होती है, तथा अहिंसाव्रतका भग होता है जो वस्तु त्रसजीवोंकी हिंसासे उत्पन्न होती है वह सर्वथा त्याग करने योग्य है अत बधबन्धन आदि अतिचार रहित इस प्रथम अहिंसाव्रतको पालना चाहिये ॥१०॥

सत्यव्रतम् ।

हास्यक्रोधभयप्रलोभनभव ब्रूयात् कचिन्नानृत,
नाप्यन्येन च भाषयेत् त्रिकरणैरेतद्ध सत्यव्रतम् ।
अभ्याख्यानपरापवादल्पन विश्वासघातस्तथा,
मिथ्यासाक्ष्यपरप्रतारणमिहा लभ्याव्यमेतद्विधम् ॥११॥

सत्यव्रत ।

भावार्थ—हास्य क्रोध भय और लोभके कारण मन वचन कायद्वारा कदापि असत्य न बोले इसी तरह दूसरेसेभी न बुलवावे तब सत्यव्रतका पालन होता है, तथा मिथ्यादोषारोपण परनिन्दा विश्वासघात झूठी—गवाही और दूसरेको ठगना ये भी असत्यमें गर्भित हैं सत्यव्रत पालनेवालेको इन सब बातोंका त्याग करना चाहिये ॥११॥

अस्तेयव्रतम् ।

वस्तु स्यात् पतितं पथे गृहगतं कस्यापि चौर्येच्छया,
ग्राह्यं तन्न विनाऽऽज्ञया त्रिकरणैर्नाप्यन्यतो ग्राहयेत् ।
ज्ञात्वा स्तेयधनं कथञ्चिदपि तन्नादेयमप्यल्पकं,
साहाय्यं न विधेयमस्य तदिदं दृत्तव्रतं पालयेत् ॥१२॥

अचौर्यव्रत ।

भावार्थ—किसीकी कोई वस्तु मार्गमें पडी हो अथवा घरमें रक्खी हो स्वामीकी विना आज्ञा मन वचन और कायद्वारा स्वयं न उठावे और दूसरेसे भी न उठवावे, तथा जानबूझकर थोडीसी भी चोरीकी वस्तु किसी तरह न ले और चोरीके काममें सहायता न करे तब सत्यव्रतका पूरीतरह पालन होता है ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतम् ।

स्याद्दार्ढ्यं यदि सर्वथा स्वमनसो ब्रह्मव्रतं गृह्यतां,
नोचेदेकनिजस्त्रियैव सततं सन्तोषवृत्तिर्नरैः ।
संपर्कोऽपि परस्त्रिया न कुधिया कार्यः सदाचारिणा,
स्त्रीपुंसोभयशीलरक्षकमिदं प्रोक्तं चतुर्थं व्रतम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मचर्यव्रत ।

भावार्थ—यदि मन स्थिर हो तो पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण करनाही योग्य है, यदि इतनी दृढता न हो तो स्वदार सन्तोषवृत्ति और स्त्रीको स्वपति संतोषव्रत धारण करना श्रेष्ठ है, सदाचारी पुरुष दुष्टबुद्धिसे परस्त्री का स्पर्श भी न करे, आचार्योंने इस चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रतको स्त्री और पुरुष दोनों के शील की रक्षा करनेवाला कहा है ॥ १३ ॥

शीलप्रतिपालनम्यावश्यकता।

व्यर्थं मानवजीवनं सविभवं शीलं विना शोभनं,
व्यर्था शीलगुणं विना निपुणता शास्त्रे कलायां तथा।
व्यर्थं साधुपदं च नायकपदं शीलं यदा खण्डितं,
सेवाधर्मसमादरो न सुलभः शीलव्रतं चान्तरा ॥ १४ ॥
पृथ्वी सत्पुरुषं विना न रुचिरा चन्द्रं विना शर्वरी,
लक्ष्मीर्दानगुणं विना वनलता पुष्पं फलं वा विना।
आदित्येन विना दिनं सुखकरं पुत्रं विना सत्कुलं,
धर्मोनैव तथा धृतः श्रुतधरैः शीलं विना शोभते ॥१५॥

शीलव्रतकी आवश्यकता।

भावार्थ—जीवनका भूषण शीलगुण है, इसके बिना निष्प्रयोजनीय जीवन तथा शास्त्र और कलाकी निपुणता निष्फल है, यदि ब्रह्मचर्य खण्डित है तो साधुपद या नायकपद व्यर्थ है, शीलके बिना सेवा धर्मका पालन नहीं होसकता ॥ १४ ॥

जैसे सत्पुरुष विना पृथ्वी, चन्द्र विना रात्रि, दानगुण विना लक्ष्मी, फलफूल विना वनलता, सूर्य विना दिवस और सुखकारी पुत्र विना उत्तम-कुल शोभा नहीं देता, इसी तरह शीलविना शास्त्रवेत्ताओं से धारण कियागया धर्म भी शोभा नहीं देता ॥ १५ ॥

इन्द्रियपारवश्यदुःखम्।

एकैकेन्द्रियपारवश्यनिहता मत्स्याः पतङ्गा मृगा,
दृश्यन्ते किल दुर्दशामुपगता भृङ्गाश्च दन्त्यादयः।

ये पञ्चेन्द्रियकामभोगविवशा नक्तं दिवं लम्पटा–
स्तेषां स्यादिह का दशा परभवे स्थानं च लभ्यं किमु॥१६॥

इन्द्रियपराधीनता का दुःख।

भावार्थ—जब कि केवल एक एक इन्द्रियकी पराधीनता के कारण हाथी मछली भौंरा पतङ्ग और मृगादि प्राणियों की दुर्दशा देखी जाती है, तो जो मनुष्य रातदिन पाचों इन्द्रियों के विषयभोग मे लम्पट है उनकी इसलोक मे क्या दशा होगी? तथा परलोक मे कौनसा स्थान मिलेगा? ॥ १५ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतपालनमर्यादा।

नैव क्वापि दृशाऽन्ययोषितमहो पश्येदयोग्येच्छया,
दृष्टा चेद्भगिनीयमस्ति जननीत्येव द्रुतं भाव्यताम्।
नो हास्यं सममेतया न च कदाऽप्येकान्तसंभाषणं,
न क्रीडा न सहासनं न चलनं कार्यं व्रतारोहणे॥१७॥
सेव्यं मादकवस्तु नो रसभृतं भोज्यं न वा नित्यशो–
द्यान्मोहकवस्त्रभूषणभरं नो वाङ्गशुश्रूषणम्।
कुर्यादिन्द्रियनिग्रहार्थमुचितं पर्वानुसारं तपो–
यद्वत् किं बहुनाऽस्य शुद्धिजनकं तत्तद्विधेयं पुनः॥१८॥

ब्रह्मचर्यव्रत पालनेकी मर्यादा।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यव्रतधारी किसी जगह बुरी भावनासे परस्त्री पर दृष्टि न डाले तथा दृष्टिगोचर होनेपर यह मेरी माता है, बहिन है, ऐसा शीघ्र चिन्तवन करे, तथा व्रतकी रक्षार्थ परस्त्रीके साथ हसी दिल्लगी एकान्तमें वार्तालाप और कौतुकक्रीडा न करे, साथमें उठना

यत्कस्यापि न पापकर्मविषये कुर्यात्मनाक् प्रेरण-
मेतल्लक्षणमष्टम व्रतमिदं कर्मौघसंरोधकम् ॥ २२ ॥

आठवां अनर्थदण्डत्यागव्रत।

भावार्थ—धनका नाश अथवा पुत्रादिकी मृत्यु होनेपर चित्तमें चिंतित भाव और न रखना अपध्यान अनर्थदण्ड त्यागव्रत है। जीव रक्षामें कायम प्रमाद नहीं करना, प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत है जीवहिंसक अस्त्रशस्त्र आदिका संचय न करना, हिंसक शस्त्रसंचय अनर्थ दण्डत्यागव्रत है। तथा पापकर्म में दूसरेको प्रेरणा न करना पापोपदेश अनर्थदण्डत्यागव्रत है। इसप्रकार यह आठवाँ अनर्थदण्डत्यागव्रत निरर्थक कायसे उत्पन्न हुए कर्म-समूहको रोकनेवाला है ॥ २२ ॥

सामायिकव्रतम्।

रागद्वेषकषायतो विषमता या जायते स्वात्मन-
स्तद्दूरीकरणाय साम्यजनकं सामायिकाख्यं व्रतम्।
कायोत्सर्गसमाधिशास्त्रमननस्वाध्यायजापश्रुती
स्त्यक्त्वा न प्रियता च कार्यमपरं घण्टामितेऽस्मिन् व्रते ॥२३॥

नवमा सामायिकव्रत।

भावार्थ—रागद्वेष और कषायके कारण आत्मामें जो विकार उत्पन्न होताहै उसको दूरकर समता भावको उत्पन्न करनेवाला सामायिक नामका व्रत है, प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन एक या अधिक सामायिक करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। सामायिकका जघन्यकाल दोघड़ी अर्थात् ४८ मिनिट है, सामायिकमें कायोत्सर्ग, ध्यान, आध्या-

मिकशास्त्रका मनन, स्वाध्याय, जाप तथा शास्त्रश्रवणके सिवाय दूसरा सांसारिक-कार्य नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

सामायिकस्यावश्यकता।

प्रातःप्रागशनात् प्रसन्नमनसाऽवश्य विदध्यादलं,
स्वच्छः शान्तनिकेतने प्रतिदिन सामायिकं भावतः।
त्यक्त्वा विकथा मनस्तनुवचोदोषाः समग्राः स्वतो-
नैर्मल्यं च भवेत्तथा परिणतेः स्थैर्यं च कार्यं तथा ॥२४॥

सामायिक व्रतकी आवश्यकता।

भावार्थ—प्रतिदिन प्रातःकाल भोजन करनेसे पहिले शुद्ध होकर प्रसन्न मनसहित निरुपद्रव स्थानमें जाकर भावपूर्वक कमसे कम एक सामायिक तो अवश्यही करना चाहिये। सामायिक के कालमें भोजन, स्त्री, देश और राजसम्बन्धी चारों विकथाओं को तथा मन के दश, वचन के दश और काय के बारह दोषोंको दूरकर ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे आत्माकी निर्मलता और परिणामकी स्थिरता हो ॥ २४ ॥

देशावकाशव्रतम्।

षष्ठे यद्विहिता दिशा परिमितिस्तत्रापि संक्षेपतो-
द्रव्यादेः परिमाणमादरधिया कृत्वाऽऽश्रवो रुध्यते।
प्रोक्तं तद्दशमं व्रतं मुनिवरै-र्देशावकाशाभिधं,
षट्कोट्या प्रतिपालनीयमनिशं कालं यथेष्टं पुनः ॥२५॥

देशावकाशिकव्रत।

भावार्थ—छठे दिग्व्रतमें जो दिशाओंकी मर्यादा की गई है उसमें भी संकोच करके आदरबुद्धिसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावका परि-

माण करनेसे क्रमशःआश्रयसे गेरनेवाला दसवाँ देशावकाशिकव्रत उपन्न होता है ऐसा मुनीश्वराने कहा है, इसको इच्छानुसार यह कोईमे नित्य पालन करना चाहिये ॥ २५ ॥

पौषधव्रतम् ।

त्यक्त्वा भूषणमाल्यमेकदिवस कृत्वोपवासस पर,
हित्वा पापकृतिं गृहीतनियमास्तिष्ठेच्च धर्मस्थले ।
धर्मध्यानपरायण: शुभमतिस्तत्पौषधाख्य व्रत,
प्राय पर्वदिनेषु दोष रहित पाल्य विशुद्ध्याऽऽत्मन:॥२६॥

पौषधव्रत ।

भावार्थ—साधारण वस्त्र के सिवाय समस्त अलङ्कार पुष्पमाला आदि का त्याग कर एक दिन अर्थात २४ घंटे चउविहार उपवास धारण करे तथा सब सासारिक पापक्रिया से निवृत्त हो नियम धारण कर धर्मस्थान मे रहे और वहा परमधर्म ध्यान मे लीन रह कर शुभ भावों से रात्रिदिवस व्यतीत करे इसे पौषधव्रत कहते हैं, धार्मिक गृहस्थ को अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वदिनों में आत्मा की शुद्धि के लिये इस व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ॥ २६ ॥

अतिथिदानव्रतम् ।

ये प्राप्तोऽतिथयो गृहाङ्गणगतास्तेषा पुरस्कारतो—
योग्यान्नोदकवस्त्रपात्रनिलय यद्दीयते श्रेयसे ।
एतद् द्वादशक व्रत समुदित निष्कामदानात्मक,
सेव्य भावनयाऽशनादिसमये योगे तु दानेन वा ॥२७॥

अतिथिसत्कारव्रत।

भावार्थ—जो सत्पुरुष अतिथिरूपमें घरमें आगमनमें आये हों उनको सत्कारपूर्वक योग्य अन्न जल वस्त्र पात्र स्थान आदि वस्तु निष्काम बुद्धिसे केवल आत्म कल्याणके लिये प्रदान करना निष्कामदानरूप बारहवाँ व्रत है। गृहस्थको भोजनादि के समय भावना भाना चाहिये, अथवा योग मिलने पर दान देकर इस व्रतका अवश्य पालन करना चाहिये ॥ २७ ॥

तृतीयपरिच्छेदः।

सेवाधर्मः।

यद्देशीयजलानिलैरपुरिदं सधारितं पोषितं,
यच्छिक्षाव्यवहारतो निपुणता बुद्धेः समासादिता।
यस्माज्जीवनसाधनानि वसनान्नादीनि लब्धानि वा,
तेषां प्रत्युपकारिणी सुमनुजाः! सेवा समाश्रीयताम् ॥२८॥

सेवाधर्म।

भावार्थ—जिस देशकी जलवायुसे यह शरीर बना और पुष्ट हुआ है, तथा जिस समाजकी शिक्षा और व्यवहारसे बुद्धिमें निपुणता आई है और जिन मनुष्यों से जीवन के साधनभूत अन्न वस्त्रादि प्राप्त हुए हैं, हे सत्पुरुषो! उनकी सेवाद्वारा प्रत्युपकार करना परम आवश्यक है ॥ २८ ॥

पालन करनेसे क्रमशः आश्रवको रोकनेवाला दसवाँ देशावकाशिकव्रत उत्पन्न होता है ऐसा मुनीश्वरोंने कहा है, इसको इच्छानुसार यह [illegible] नित्य पालन करना चाहिये ॥ २५ ॥

पौषधव्रतम् ।

त्यक्त्वा भूषणमाल्यमेकदिवसं कृत्वोपवासं परं,
हित्वा पापकृतिं गृहीतनियमस्तिष्ठेच्च धर्मस्थले ।
धर्मध्यानपरायणः शुभमतिस्तत्पौषधाख्यं व्रतं,
ग्राह्यं पर्वदिनेषु दोषरहितं पाल्यं विशुद्ध्याऽऽत्मनः ॥२६॥

पौषधव्रत ।

भावार्थ—साधारण वस्त्र के सिवाय समस्त अलङ्कार पुष्पमाला आदि का त्याग कर एक दिन अर्थात् २४ घंटे चउविहार उपवास धारण करे तथा सब सांसारिक पापकृत्यों से निवृत्त हो नियम धारण कर धर्मस्थान में रहे और वहाँ परमधर्म ध्यान में लीन रह कर शुभ भावों से रात्रिदिवस व्यतीत करे इसे पौषधव्रत कहते हैं, धार्मिक गृहस्थ को अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वदिनों में आत्मा की शुद्धि के लिये इस व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ॥ २६ ॥

अतिथिदानव्रतम् ।

ये सन्तोऽतिथयो गृहाङ्गणगतास्तेषां पुरस्कारतो-
योग्यान्नोदकवस्त्रपात्रनिलयं यद्दीयते श्रेयसे ।
एतद् द्वादशकं व्रतं समुदितं निष्कामदानात्मकं,
सेव्यं भोजनधाऽशनादिसमये योगे तु दानेन वा ॥२७॥

वृक्षका परमार्थजीवन।

भावार्थ—हे वृक्ष! तू पत्र पुष्प फल मूल आदि समस्त अवयवोंसे औषधरूप बनकर रोग दूर करता है, पत्ता द्वारा पशुओंका तथा दुर्भिक्षकालमें मनुष्योंका पोषण करता है, तेरे पुष्प प्रतिदिन सत्पुरुषों के सत्कार तथा पूजाविधिमें काम आते हैं, और तेरा काष्ठ खेती के काममें नौका आदि वाहन बनानेमें गृहनिर्माणमें तथा भोजनपकानेमें काम आता है और तेरी छाल, वल्कल-वस्त्र बनानेमें काम आती है। ईंट पत्थर आदिसे सतानेवालेको भी तू मीठे फल देता है, तेरी शीतलछाया पथिकोंका श्रम दूर करती है, तू वृष्टि आदिका आकर्षण कर वायु शुद्ध करता है, शीत उष्ण और वर्षाकी बाधा सहकर प्राणी मात्रकी सेवा करनेवाले हे तरुराज! तूने यह अनुपम परोपकार व्रत किससे सीखा? ॥३०॥३१॥

परोपकारार्थमेव सद्वस्तूनामस्तित्वम्।

सूर्यो भ्राम्यति नाशनाय तमसो लोकोपकाराय च,
मेघो वर्षति वाति वायुरनलः कालादिमर्यादतः।
नद्यो भूमितले वहन्ति नितरां नृणां हरन्त्यो मलं,
सद्भावोद्भवनं परार्थमखिलो प्रायेण विज्ञायते ॥३२॥

उत्तमवस्तुएँ परोपकारके लियेही होती हैं।

भावार्थ—अन्धकारका नाश कर प्रकाश और गर्मी पहुँचाकर समस्त विश्वका उपकार करनेके लिये सूर्य नित्य भ्रमण करता है, मेघ यथासमय जल बरसाता है, ऋतु आदिकी मर्यादा अनुसार वायु हमेशा चला करता है, तथा नदियाँ मनुष्योंका मल दूर करती हुई पृथ्वी पर

प्रत्युपकारवृत्तेर्व्यापकता।

वृक्षाः पोषणकारकाय ददति स्वादु सुपक्वं फलं,
जग्ध्वा शुष्कतृणानि दुग्धममलं गावोऽर्पयन्त्यन्वहम्।
ये श्वानाऽप्युपकारकस्य नितरां नो विस्मरन्ति क्षणं,
तस्मात् प्रत्युपकारसिद्धनियमं धीमान् मनुष्यः कथम्? ॥२९॥

प्रत्युपकारवृत्तेर्व्यापकता।

भावार्थ—वृक्ष पोषण करनेवाले को स्वादिष्ट और पके फल देते हैं, गाय सूखा घास खाकर प्रतिदिन निर्मल मिष्ट दूध देती है, और कुत्ते भी उपकारी का उपकार क्षणभर भी नहीं भूलते, अर्थात् जी जान से उसकी रक्षा करते हैं। जब कि अन्य प्राणियों में भी प्रत्युपकारवृत्ति देखी जाती है तब बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रसिद्ध और व्यापक नियमका भंग क्या करते हैं? ॥ २९ ॥

वृक्षस्य परार्थजीवनम्।

त्वं सर्वावयवैर्गदं हरसि भो! निष्पाद्य भैषज्यकं,
पत्रैः पोषयसे सदा पशुगणान् दुर्भिक्षकाले नरान्।
युज्यन्ते कुसुमानि ते प्रतिदिनं सत्कारपूजाविधौ,
काष्ठं ते कृषिनौगृहान्नपचने त्वग् युज्यते वल्कले ॥३०॥

यष्ट्याद्यैरपकारिणामपि फलं मिष्टं ददासि द्रुत,
पान्थानां तु पथःश्रमं हरसि वा त्वं छायया शीतया।
दृष्ट्वाकर्षकवायुशुद्धिजनकः शीताऽऽतपादेः सह,
केनेदं तव शिक्षितं तरुवर! मान्यं परार्थं व्रतम् ॥३१॥

द्वार है। दूसरेको सुखी देखकर प्रमोद करना दूसरा द्वार है। दुःखी जीवों पर दया करना तीसरा और शत्रु पर द्वेष न कर उपेक्षा अर्थात् मध्यस्थभाव धारण करना चतुर्थ द्वार है ॥ ३४ ॥

चतुर्थपरिच्छेदः।

मैत्रीभावना।

वैरत्याग।

वैरं दुःखदवानलोद्भवकरं चिन्तालताम्भोधरो,
धर्माम्भोजहिमं महाभयखनिः कर्मग्रहाऽऽश्रयः।
रागद्वेषमहीधराग्रशिखरं विक्षेपवृक्षोत्सवो,
मैत्रीसंश्रयणार्थमुत्क्षिप हृदश्चैतत्समूलं द्रुतम् ॥३५॥

वैरका त्याग।

भावार्थ—दुःखरूप दावाग्निको उत्पन्न करनेवाला यह वैर, चिन्तारूप लताको सींचनेके लिये मेघतुल्य और धर्मरूप कमलको जलानेके लिये हिमसमान है, महाभयकी खानि, घोर कर्मबन्धका कारण, राग द्वेष रूप पर्वतका ऊंचा शिखर और चित्तविक्षेपरूप वृक्षको बढानेवाला है, अत एव मैत्री भावनाकी रक्षाके लिये हृदयसे इस वैरको जडसे समूल उखाड देना चाहिये ॥ ३५ ॥

सर्वेऽपि भ्रातरः।

भ्रातृत्वेन भवान्तरेषु जनिता सर्वेऽपि जीवाः पुरा,
नैकोऽप्यस्ति तथाविधो न रचिता येनान सम्बन्धिता।

निरन्तर यत्न करना है समारम्भ प्रायः सब उत्तम वस्तुओंकी उत्पत्ति परोपकारके लिये ही प्रतीत होती है ॥ ३२ ॥

प्राणिनामपि परोपकारवृत्तिः ।

कौशेयं रचयन्ति सूक्ष्मकृमयो नक्तंदिनं यत्नतः,
स्वादिष्टं मधुमक्षिका मधुभरं संचिन्वते सन्ततम् ।
मुक्ता बिभ्रति शुक्तयोऽपि जठरे कस्तूरिकां सन्मृगा,
एतेषामसुधारिणामपि जनुर्लोकोपकारार्थकम् ॥३३॥

प्राणियोंकी भी परोपकारवृत्ति ।

भावार्थ—छोटे २ कीड़े रातदिन परिश्रम करके रेशम उत्पन्न करते हैं, मधुमक्खियां निरन्तर उद्योग कर स्वादिष्ट मधु संचय करती हैं सीप अपने उदरमें मोती तथा उत्तम मृग नाभिमें कस्तूरी धारण करते हैं इन सब क्षुद्र प्राणियोंका जीवन भी केवल परोपकारके लिये है स्वार्थके लिये नहीं ॥ ३३ ॥

सेवाधर्मप्रवेशद्वाराणि ।

सेवाधर्मपुरप्रवेशकरणे द्वाराणि चत्वारि वै,
मैत्री सर्वजनैर्न केनचिदपि क्लेशस्तदाद्यं व्रतम् ।
मोदोऽन्यस्य सुखेन यत्तदपरं द्वारं तृतीयं दया,
दुःखाऽऽर्त्तेषु चतुर्थमुग्रकलुषे योपेक्षणाऽऽश्रीयते ॥३४॥

सेवाधर्ममें प्रवेश करनेके द्वार ।

भावार्थ—सेवाधर्मरूप नगरमें प्रवेश करनेके लिये चार दवाजे हैं, किसीसे क्लेश द्रोह न कर मनुष्यमात्रके साथ मैत्री भाव रखना प्रथम

मैत्री क्रम।

मैत्रीकल्पलता मयाति विततिं शक्तेर्विकाशो यथा,
तस्यास्तिष्ठति मूलमात्मनिलये स्कन्धस्तु सम्बन्धिषु।
शाखा देश-समाज-मानवगणे विस्तारमापद्यते,
सर्वप्राणिगणे तदीयशिखरं भान्ति जगद्व्याप्नुते ॥३८॥

मित्रता का क्रम।

भावार्थ—ज्यों ज्यों आत्मा की शक्ति का विकाश होता जाता है त्यों त्यों मैत्रीरूप कल्पलता फैलती जाती है, इस मैत्रीरूप कल्पलता का मूल अपने घरमें रहता है अर्थात् मैत्री प्रथम घरमें प्रारम्भ होती है, उसका स्कन्ध कुटुम्बियों में शाखा समाज देश और मनुष्यमात्रमें तथा शिखर प्राणीमात्र में रहता है अंतमें बढ़ते २ यह मैत्रीरूप कल्पलता संसार में व्याप्त हो जाती है ॥ ३८ ॥

मैत्रीघातकप्रकृते परिहार।

वैधर्म्यं यदि तत्त्वनिश्चयधिया तद्वै समालोच्यताम्,
वैदेश्यं यदि गृह्यतां नवगुणस्तस्मात्तदीयं हितम्।
वैजात्येऽपि विरोधभावजननं दोषावहं सर्वथा,
भेदेऽपि प्रकृतेर्द्वयोरनुचितं मैत्रीपथोत्सर्जनम् ॥३९॥

मित्रताघातक प्रकृति का परित्याग।

भावार्थ—यदि कोई व्यक्ति विधर्मी अर्थात् भिन्न धर्मवाला है तो उसके साथ विरोध न करके तत्त्वनिश्चय करनेकी बुद्धिसे तत्त्वविचार करना चाहिये, कोई विदेशी है उस से नवीनगुण सीखना तथा सिखाना चाहिये, दूसरी जाति वाले पुरुष के साथ वैर विरोध करना सर्वथा

पुत्रा ईश्वरस्याखिलाङ्गिनो भगवतः कर्तृत्ववादे पुनः
दैवस्येत्यखिला जनाः समभवन् ते भ्रातरः सोदराः ॥३६॥

सब जीवों के साथ भ्रातृभाव ॥

भावार्थ—सब जीव पहिले किसी न किसी भव में बन्धुपने को प्राप्त हो चुके हैं, ऐसा एक भी जीव नहीं जिसके साथ बन्धुपने का सम्बन्ध न हुआ हो, जो लोग ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं उनके मत से समस्त जीव ईश्वर के पुत्र हैं, इस प्रकार कर्तावादी और अकर्तावादी इन दोनों के मत से प्राणीमात्र भाई सिद्ध हुए, अतएव भाई के साथ विरोध करना सर्वथा अनुचित है ॥ ३६ ॥

क्षमायाचनम् ।

नानिष्टं मनसाऽपि चिन्त्यमखिल-भ्रातात्मकप्राणिनां,
किन्त्विष्टं मनसा धनेन वचसा कायेन कार्यं सदा ।
येषां क्वाप्यजनि क्षतिः कथमपि त्वत्तोऽज्ञतायास्तदा,
तांस्त्वं शुद्धधिया क्षमापय मुदा सायाह्ने नित्यशः ॥३७॥

क्षमा की भिक्षा ।

भावार्थ—समस्त प्राणी भाई हैं, अतएव मनसे भी उनका बुरा चिन्तवन न करो, किन्तु मन वचन काय से तथा धन से उनका सदा भला करो किसी समय अज्ञानवश तुम से किसी को किसी तरह की हानि पहुँची हो तो उचित है कि तुम शुद्ध अन्तःकरण से हर्षपूर्वक प्रातःकाल और सायङ्काल दोनों समय नित्य उनसे क्षमा माँगो ॥ ३७ ॥

है? (उत्तर) भाई! मेरी वनस्पति जाति का उदय देखकर मेरे हृदयमें दाह्‌ज्वर उत्पन्न होता है, इस लिये मैं जलता हूँ। (प्रश्न) इस पृथ्वी पर तेरे समान दूसरा कौन है जो विना कारण दुःखी होता है? (उत्तर) मुझसे भी अधिक दुःखाग्नि से जलेहुए वे मनुष्य हैं जो ईर्षा करते हैं॥ ४१॥

ईर्ष्यालु सदैव दुःखम्।

भार्या भव्यतरा सुताश्च सुधियः सम्पत् परा कोटितः
ईर्ष्यालुर्न सुखं तथाऽपि लभते दन्दह्यते मानसे।
नो पश्येत् सुखिनं कदापि यमपि क्वापीह भूमण्डले,
तर्ह्येव भवेत सुखी परमहो! नेदृक्स्थितेः सम्भवः ॥४२॥

ईर्ष्या से सदा दुःख होता है।

भावार्थ—उत्तम पतिव्रता स्त्री मिली हो, पुत्र बुद्धिमान् हो, और करोड़ों से भी अधिक सम्पति हो तथापि ईर्ष्या करनेवाला मनुष्य कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता कारण कि वह नित्य मनमें जला करता है, यदि इस भूमण्डल पर कहीं पर किसी समय सुखी मनुष्यको न देखे तब ईर्ष्यालु मनुष्य सुखी हो सकता है किन्तु ऐसा होना असंभव है अर्थात् ईर्ष्यालु मनुष्य सुखकी सामग्री के होते हुए भी सदा दुःखी ही बना रहता है॥ ४२॥

हानिकारक है तथा स्वभावभेद होने पर भी मैत्रीभाव का त्याग करना अनुचित है ॥ ९ ॥

धर्म्यादिषु सत्स्व पि न मैत्रीघातः ।
त्रऽस्य पि सत्त्व तिष्ठति सदा किं द्रव्यषट्कं न ना ? ।
भेदेऽप्य पि चकोरचन्द्रकुमुदे हासो न मैत्र्याः सदा ।
जाते ऽपि वन सदैव तरवस्तिष्ठन्ति वल्ल्यादिभिः,
किं स्यान्या मनुजैस्तदा सुखकरी मैत्र्यल्पभेदोद्भवे॥४०॥

धर्म-भेदादि के रहने पर भी मैत्रीका घात नहीं होता।

भावार्थ—जीवादि छह द्रव्यों का स्वभाव भिन्न भिन्न है तथापि ये छ य स्व लोक में सदा एक साथ रहते हैं, कुमुद चन्द्र और चकोर भिन्न २ देशमें रहते हैं किन्तु कभी इन की मैत्री का हास नहीं होता, वृक्ष और लताओं में जाति भेद है तो भी वनमें एक साथ निवास करते हैं, जब कि उक्त पदार्थों में स्वभाव भेद, देशभेद और जातिभेद मैत्री के बाधक नहीं होते तो क्या मनुष्योंका उचित है कि थोड़ासा भेद रहने पर सदा सुखदायिनी मित्रता का त्याग करदें ? ॥४०॥

ईर्ष्यादोष ।

रे दुर्भागियवासक ! ज्वलसि किं फाल्गुने म्लुषादौ वने ?,
दृष्ट्वा जातिमहादय मनसि मे दाहज्वरो जायते ।
स्यात्कश्चिज्जगतीतले त्वदुपमो निष्कारणं दुःखितो,
मत्तोऽप्युग्रविषादद्ग्धहृदया ईर्ष्यान्विता मानवाः ॥४१॥

ईर्ष्यारूप दोष ।

भावार्थ—अरे दुर्भागी जवासिया ! तू वर्षाऋतुमें क्यों जलजाता

करने लगते हैं चकोर मेघकी बिन्दु पाकर अति आनन्दित होते हैं इसी प्रकार हे मानव ! तू भी मानव बन्धुओं का अभ्युदय देखकर हृदयमें रोमांच धारण कर अर्थात् प्रसन्न हो ॥ ७३ ॥ ॥४८॥

ईर्ष्याप्रमोदयोः फलम् ।

ईर्ष्यायाः फलमाप्स्यसि प्रगुणितामीर्ष्यां परेभ्यः पुन-
र्मोदस्योत्सवमोदमेव जगतस्त्वं लप्स्यसे प्राञ्जलम् ।
मोदन्तां मम सम्पदा परजना कुर्वन्तु नेर्ष्यामिति,
वाञ्छा ते मनसस्ततो भज सदा मोदं त्यजेर्ष्यां त्वम् ॥ ८५॥

ईर्षा और प्रमोदका फल।

भावार्थ—यदि तुम दूसरोंकी ईर्ष्या करोगे तो दूसरे भी तुम्हारी दूनी ईर्षा करेंगे, तथा तुम दूसरों की उन्नतिमें हर्ष मनाओगे तो दूसरे भी तुम्हारी उन्नतिमें अधिक हर्ष मनायेंगे अर्थात् ईर्षाका फल ईर्षा और हर्षका फल हर्ष है यदि तुम्हारी हार्दिक इच्छा ऐसी है कि मेरी सम्पत्ति में दूसरे हर्षित हों कोई भी ईर्षा न करें तो उचित है कि तुम दूसरोंकी ईर्षा न कर सदा हर्ष करो ॥ ७५ ॥

क्रिया
। की
दूसरे
मेरा
। ।
॥७९॥
देना।
विनीत—
फल है,
तो इस का
ही सुख जायगा
॥

षष्ठ परिच्छेदः ।

करुणाभावना ।

...य सम्यक्त्विप्रणतया ... ...दुःखरोगादिता—
... ये केनचित्पीडिता ।
... न्ति ये ये भुवा,
... गच्छन्ति साहाय्यकम् ॥८०॥

पञ्चमपरिच्छेदः ।

प्रमोदभावना ।

परसम्पत्तौ प्रमोदः ।

कर्त्तव्यव्रतपालने यदि रुचिस्तूर्णंतस्त्वधन्यता—
मीर्ष्यालेशमिताऽपि दोषजनिका सेवाकपाटार्गला ।
दृष्ट्वा रूपवत परान् समुदितान् सन्मानितान् सादरं,
मोदस्व स्वयमत्र विशुद्धमनसा पद्म यथाऽर्कोदयम् ॥४३॥

वृक्षा पल्लविता लता पुष्पिता पुष्पैर्वसन्ते यथा,
श्रुत्वा म्भोधरगर्जना गिरितटे मत्ता मयूरा यथा ।
लब्ध्वा तोयदबिन्दुमेति विपुलं हर्षं यथा चातको,
दृष्ट्वा बन्धुजनं मनोन्नततरं रोमाञ्चितस्त्वं तथा ॥४४॥

दूसरे की सम्पत्तिशाली देखकर प्रसन्न होना।

भावार्थ—यदि इस धर्मरूप व्रत पालने की उत्कण्ठा है तो लेश मात्र भी ईर्षा नहीं करना चाहिये, क्योंकि ईर्षा सेवारूप द्वार को बन्द करनेवाला आगल है, दूसरे को उन्नतिशाली तथा हर्षित एवं आदर से सम्मान पाते हुए देखकर शुद्ध हृदय से अतिप्रसन्न होना चाहिये, जैसे सूर्यका उदय देखकर कमल प्रसन्न होता है। वसन्तऋतु का आगमन देखकर वृक्ष नवीन पल्लव को तथा लताएं पुष्पों द्वारा रोमाञ्च को धारण करती है. मेघकी गर्जना सुन मयूर मस्त होकर नृत्य

धर्मप्रभावना ।

भावार्थ —जैन आगममें करुणाको सम्यग्रूप कहा है। तथा बौद्ध और वैदिक धर्ममें इसे धर्मरूप वृक्षका मूल बताया है, दयाविना साधुपना और श्रावकपना दुर्लभ है, तथा इसके बिना मोक्षरूप मार्ग पर पाँव रखना दुष्कर है ॥ २६ ॥

करुणाफलम् ।

सर्वेऽपि प्रियजीवितास्तनुभृतो वाञ्छन्ति सौख्यं सदा,
दुःखं कोऽपि न वाञ्छति त्वमिव नो मृत्युं न चानादरम् ।
यद्यद्वाञ्छसि देहि तत्तदखिलं अन्येभ्यो जनेभ्यो मुदा,
एवं तत्तदवाप्स्यसि देहतो यदुत्तरं सत्यं च ॥२७॥

करुणा का फल ।

भावार्थ—सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सब जीव तुम्हारी तरह सदा सुखकी इच्छा रखते हैं, तथा दुःख मृत्यु और अनादरसे मुँह मोड़ते हैं तुम जिस वस्तु को चाहते हो उसे प्रसन्नतापूर्वक दूसरेको तत्काल प्रदान करो आगमसे तुम्हें भरपूर मिलेगी ॥ २७ ॥

करुणा बिना सर्व निष्फलम् ।

किं द्रव्येण फलं न येन करुणापात्रस्य दुःखं हृतं ।
किं देहेन न योऽर्पितः क्षितितले प्राणाहिंना रक्षणे ।
किं शक्त्या न ययोद्धृता करुणया दुःखार्दिताः प्राणिनः,
किं बुद्ध्या न ययाङ्कितः शिवपथः कर्मौघविच्छित्तये ॥२८॥

करुणा विना सब निष्फल।

भावार्थ—जिस द्रव्यसे करुणापात्र जीवोंका दुःख दूर न किया उस द्रव्य से क्या फल? जिस शरीर से पीड़ित प्राणियोंकी रक्षा न की उस शरीरसे क्या लाभ? वह शक्ति किस कामकी जिससे करुणापूर्वक दुःखितजीवोंका उद्धार न किया, उस बुद्धि से क्या फल जिसमें कर्मका नाश करनेवाला मोक्षमार्ग नहीं पहिचाना ॥ ४८ ॥

पुण्यवृक्षसेचनाय करुणा ।

साम्राज्यं सुयशः सुखं च सुहृदो मित्रा विनीताः सुता-
स्तानीमानि फलानि पुण्यसुतरोः प्राप्तानि सम्प्रत्त्वया ।
सिञ्चैनं करुणाजलेन सततं चेद्रक्षितुं वाञ्छसि,
नो चेच्छोषमुपैष्यति द्रुततरं सौख्यं च ते नङ्क्ष्यति॥४९॥

पुण्यरूप-वृक्षको सींचने के लिये करुणा की आवश्यकता।

भावार्थ—राज्यलक्ष्मी कीर्ति सुख मित्र मित्र और विनीत-पुत्र जो कुछ इस समय प्राप्त हैं ये सब पुण्यरूपवृक्ष के फल हैं, यदि इस पुण्यवृक्ष को सदा हरा भरा रखना चाहते हो तो इस का निरन्तर करुणाजल से सिंचन करो अन्यथा वह शीघ्र सूख जायगा और तुम्हारी सुखसामग्री अदृश्य हो जायगी ॥ ४९ ॥

करुणापात्राणि ।

ये दीना विकलाङ्गिनो विधिहता दारिद्र्यरोगार्दिता-
वृद्धा वा विधवा अनाथशिशवो ये केनचित्पीडिताः ।
दुर्भिक्षे तृणधान्यदुर्लभतया सीदन्ति ये ये क्षुधा,
ते सर्वे करुणास्पदं धनवतां वाञ्छन्ति साहाय्यकम् ॥५०॥

करुणापात्र जीव।

भावार्थ—दीन अपंग भाग्यहीन दरिद्री रोगी वृद्ध विधवाएँ अनाथबालक किसी द्वारा सताये गये निरपराध मनुष्य तथा दुर्भिक्षसमय अन्न धास बिना भूख मरनेवाले प्राणी ये सब करुणापात्र हैं तथा धनवानों से आर्थिक सहायता की इच्छा रखते हैं ॥ ५० ॥

सप्तमपरिच्छेद ।

माध्यस्थ्य भावना।

पापेभ्यः परिमोचनाय जगतश्चेत्ते मनोभावना,
मा धस्थ्य परिशीलनीयमनिशं तस्यास्तदा सिद्धये।
या यस्मैन विना मनस्समतुला वैषम्यमापद्यते,
वैषम्येण पतेत्स्वयं गुणगणाद्दूरेऽस्त्वमुक्ते कथा ॥५१॥

माध्यस्थ्यभावना।

भावार्थ—तुम यदि ससारके प्राणियो को पाप से छुड़ाना चाहते हो तो निरन्तर माध्यस्थ्य-भावना का अभ्यास करो, क्योंकि माध्यस्थभावना के बिना मन की समता, विषमता का रूप धारण करलेती है इससे दूसरेको पापसे मुक्त करना तो दूर रहा विषमता के कारण आप स्वयं गुण समूह से गिरजाता है ॥ ५१ ॥

सहिष्णुता।

सेवाया जनतोपकारकरणे धर्मस्य सचारणे,
सत्योत्कृष्टसहिष्णुता मनसि तेऽवश्यं सदाऽपेक्षिता।

इत्युक्त्वा प्रतिपक्षिणस्तदपि नो कोपो विषादोऽथवा,
नश्येन्नापि च धैर्यमल्पमपि चेत्ते कार्यसिद्धिस्तदा ॥५२॥

सहनशीलता।

भावार्थ—हे धर्मवीर, मानव समाज का उपकार और धर्मप्रचार करने के लिये हृदयमें सबसे विशाल सहनशीलता रखना आवश्यक है, यदि शत्रु मारने को भी उद्यत हो तो कोप अथवा खेद न करे और किंचिन्मात्र धैर्यको न छोड़े तब ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है ॥ ५२ ॥

पापिनामपि न तिरस्कार ।

भूयांसोऽपि विरोधिनस्तनुभृतः स्युः पापकार्ये रता—
यो वास्ते मृदुनम्रबोधवचनैः सामाद्युपायैस्त्रिभिः।
क्रूरत्वान्मृदुता भजन्ति न च ते केनाप्युपायेन चेत्,
कर्त्तव्य तदुपेक्षण न च तिरस्कारो-थवा ताडनम् ॥५३॥

पापी मनुष्य का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें बहुत से प्राणी तेरा विरोध करनेवाले हैं जो कि पापकर्म में तल्लीन हैं उनको साम दाम और भेद इन तीन उपायों से तथा मीठे और कोमल उपदेश द्वारा समझाना चाहिये यदि वे क्रूरजीव किसी प्रकार क्रूरताको छोड़कर कोमलता धारण न करें तो उनकी उपेक्षा करनाही उचित है किंतु उनका तिरस्कार अथवा ताड़ना करना उचित नहीं ॥ ५३ ॥

पापस्यैव नाशो न तु पापिनाम्।

कार्यं पापविनाशनं तदपि नो नाशेन पापात्मनो,
  यस्मात् पापिजनस्य हिंसनतया पापस्य वृद्धिर्भवेत्।
वस्त्रादेर्मलनाशनार्थमुचितं नो वस्त्रविच्छेदनं,
  किन्त्वत्यावजलेन तत्र मृदुता यत्नान्मलोत्सर्जनम् ॥५४॥

पापियों का नाश न करके पापका ही नाश करना चाहिये।

भावार्थ--पाप का नाश करना चाहिये किन्तु पापीका नाश करना अनुचित है क्यों कि पापीमनुष्य का घात करने से हिंसा होता है और हिंसा से पापकी वृद्धि होती है, वस्त्रादि का मैल दूर करने के लिये वस्त्र का छेदन करना युक्ति संगत नहीं, किन्तु जल से वस्त्र को कोमल बनाकर मैल दूर करना ही युक्ति संगत है इसी प्रकार पापीको कोमल वचनों द्वारा पाप से छुड़ाना योग्य है ॥५४॥

शान्तिपूर्वकमाध्यस्थ्येनैव विजयः।

सामर्थ्येऽपि सहिष्णुता समुचिता सेवादिकार्ये ध्रुवं,
  दौर्बल्यं यदि मन्यते तदपि नो सम्यक् स्वसत्त्वोदयात्।
शान्तिक्षान्तिसमाश्रयेण सततं मा यस्थ्यभावाश्रये,
  जायुस्तत्प्रतिपक्षिणोऽप्यवनतां धाष्टर्यं च पापाग्रहम् ॥५५॥

शान्तिपूर्वक मध्यस्थभाव से ही विजय होती है।

भावार्थ--शत्रुसे बदला लेने की शक्ति होने पर भी देशसेवा आदि कार्य करनेवाले को सहनशीलता धारण करना उचित है, सहनशीलता को दुर्बलता मानना युक्त नहीं, क्यों कि आत्माका बल प्रकट

होनेसे ही शत्रुता उत्पन्न होती है, अत एव शांति और क्षमा का अवलम्बन कर मध्यस्थ भाव धारण करना चाहिये, ऐसा करने से तुम्हारे शत्रु भी अपनी धृष्टता और कदाग्रह को छोड नम्र हो जायँगे ॥ ५५ ॥

अष्टमपरिच्छेदः ।

मनुष्यसेवा ।

निर्नाथाः पशवो यथा करुणया पश्वालये यत्नतो-
रक्ष्यन्ते करुणार्द्रभिर्भविजनैः कृत्वाऽपि भूरिव्ययम् ।
निर्नाथा मनुजास्तथैव करुणाबुद्ध्या सुरक्ष्याः सदा,
यत्सन्ति प्रथमेऽधिकारिण इमे बुद्ध्यादिवैशिष्ट्यत ॥५६॥

मनुष्य-सेवा।

भावार्थ—जैसे दयालु भव्यमनुष्य करुणाबुद्धि से बहुत धन खर्च करके पिंजरापोल बनाते हैं और उसमें बडे यत्न से अनाथ पशुओं की रक्षा करते हैं। इसीप्रकार करुणाबुद्धि से अनाथ मनुष्यों की रक्षा करना परम आवश्यक है। कारण कि पशुओं से मनुष्यों में ज्ञान अधिक होता है, अत एव रक्षाकार्यमें इनका प्रथम अधिकार है। अर्थात् पहले मनुष्यों की रक्षा करना चाहिये ॥ ५६ ॥

अनाथबालसेवा ।

येषां नास्ति पिता नचापि जननी नोर्मी न च भ्रातरो-
धारास्ते करुणास्पदा निधिहता भ्राम्यन्त्यनाथा यतः

तेषा रक्षणहेतवे स्वविषये संस्थाप्य बालाश्रम,
साहाय्य धनिकै र्जनै समुचित द्रव्येण कार्यं स्वयम् ॥५७॥
अनाथ बालकों की सेवा।

भावार्थ—जिन बालकों के माता पिता भाई आदि कोई रक्षा करनेवाला न हो ऐसे करुणापात्र अनाथ बालक दुर्भाग्यवश इधर उधर मारे फिरते हैं धनिक पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि इन अनाथ निराधार बालकों की रक्षा और शिक्षा के लिये अपने देश में अनाथालय स्थापन करें तथा यथाशक्ति द्रव्यद्वारा स्वय सहायता करें और दूसरों से करावे ॥ ५७ ॥

बालसेवा विषये साधारणजन कर्त्तव्यम्।
सामान्यैरपि मानवैर्जनपदे पर्यट्य पृष्ट्वा जनान्,
शोध्या नाथविहीनदीनशिशव सगृह्य तानाश्रमे।
रक्ष्या रक्षणपद्धतिश्च सुदृशा लोलुक्यता नित्यश,
स्याच्चत्र स्खलना कथञ्चिदपि सा ताश्रायकान् ज्ञाप्यताम्॥५८

बालसेवा प्रति साधारण मनुष्यों का कर्त्तव्य।

भावार्थ—जिन मनुष्यों की द्रव्य से सहायता करने की शक्ति नहीं है, उनका कर्त्तव्य है कि वे देशके भिन्न २ स्थानों में घूमें। तथा उन २ ग्रामों के मनुष्यों से पूछकर दीन हीन अनाथ बालकों को ढूंढें, और रक्षानिमित्त अनाथाश्रममें सग्रह करें तथा नित्यप्रति आश्रमका कार्यक्रम और रक्षापद्धति का अच्छी तरह निरीक्षण करें। यदि इस में किसी प्रकार की त्रुटि विदित हो, तो आश्रम के मुखियाओं को सूचित करें ॥ ५८ ॥

भिन्नभिन्नप्रकारेण सेवाऽर्जनम् ।

विद्वांश्चेत्पठनोद्यतान् सरलया रीत्या मुदा पाठय,
शिल्पी चेदुचिताश्च शिक्षय कला निष्कामवृत्त्याऽखिलाः ।
वक्ता चेदसि दर्शय प्रवचनैः सन्नीतिमार्गं सदा,
वैद्यश्चेत्कुरु रोगनाशनकृते तेषां व्यवस्थां शुभाम् ॥ ५९ ॥

वैश्यश्चेद्भव कार्यवाहकतया वस्तुव्यवस्थापकः,
श्रीमांश्चेच्छिशुयोग्यवस्त्रनिकरं देहि प्रसङ्गोत्सवे ।
सामान्यो यदि शंसनेन जनतामध्येऽस्य सञ्चारणं,
सेवामर्जय येन केनचिदपि त्वं स्वार्थवृत्तिं विना ॥ ६० ॥

भिन्न भिन्न प्रकारसे मनुष्यों की भिन्न २ सेवा ।

भावार्थ—सेवा की इच्छा रखनेवाला विद्वान् आश्रमके बालकों को प्रेमपूर्वक सुगमरीति से पढावे, कारीगर निष्कामबुद्धिसे सपूर्ण योग्य कलाकौशल्य सिखावे, वक्ता उपदेशद्वारा सदा उत्तम नीतिमार्ग दिखावे वैद्य खानपानादि की उत्तम व्यवस्था करे जिससे बालक नीरोग रहें अथवा रोग उत्पन्न होने पर योग्य चिकित्सा करे, वैश्य कार्यभार धारण कर-आश्रमकी वस्तुओंकी व्यवस्था करे धनवान विवाहादि उत्सव पर अनाथ बालकों के योग्य वस्त्रादि प्रदान करे साधारणपुरुष जनसमुदाय में कार्य की यथार्थ प्रशंसाद्वारा आश्रम का प्रचार करे अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि स्वार्थ त्यागकर यथाशक्ति सेवा करने में कटिबद्ध रहे ॥ ५९ ॥६०॥

ग्राम्यशाला ।

यद्ग्रामे शिशुशिक्षणाय न भवेच्छालादिकं साधनं,
सेवास्थानमिदं वरं सुविदुषां विद्यार्थिशिक्षात्मकम् ।
श्रीमन्तोऽपि च शक्नुवन्ति धनतः सम्पाद्य शालामिदं,
सेवापुण्यमुपार्जितुं च विततां कीर्तिं जनाशीर्वचः ॥६१॥

गाँव में पाठशाला ।

भावार्थ—जिस गाँव में बालकों की शिक्षा के साधन पाठशाला आदि न हों तो विद्वान् पुरुष शक्ति अनुसार विद्यार्थियों को विद्याभ्यास करावें, और श्रीमान् पुरुष धनबल से शाला स्थापित करें अर्थात् प्रत्येक मनुष्य विद्यार्थी सेवा के शुभ अवसर को हाथ से न जाने दें कारण कि इस से पुण्य का उपार्जन, कीर्ति का विस्तार और जनसमुदाय का आशीर्वाद इत्यादि एक साथ अनेक लाभ होते हैं॥६१॥

शूद्रशिक्षणम् ।

शूद्राणामपि शिक्षणेन चरितं शुद्धं भवेन्नैतिकं,
नश्येद्दुर्व्यसनोद्भवं च दुरितं दैन्यं च दूरीभवेत् ।
सेवाक्षेत्रमिदं धनाढ्यविदुषोर्भव्यं विशालं ततः-
स्ताभ्यां शूद्रकशिक्षणार्थमुचितं कार्यं प्रयत्नो वरः ॥६२॥

शूद्रशिक्षा ।

भावार्थ–शूद्रों को शिक्षा देने से उन का नैतिक चारित्र पवित्र हो जाता है । जूआ चोरी मदिरापान आदि दुर्व्यसन का नाश होने से उससे होनेवाला पाप तथा दीनता दूर हो जाती है, विद्वान् और धनवान् दोनों के लिये यह सर्वोत्तम और निःशङ्क सेवाक्षेत्र है । अतएव विद्वानों और धनवानों का कर्त्तव्य है कि शूद्रों की शिक्षा का योग्य प्रबन्ध करें ॥ ६२ ॥

दीनानां पुस्तकादिमाहाय्यम् ।

ये दीनाः स्वसुतान्न रक्षितुमलं गेहेदरिद्रत्वतो,
नैवाप्यर्पयितुं क्षमाः सुविदिते बालाश्रमे लज्जया ।
तेभ्यो गुप्ततयाऽन्नपुस्तकपटान् देहि स्वयं दापया–
न्येभ्यः पाठयितुं सुतान्निजगृहे यन्ते(?)ऽस्तुयुक्ते सुखम् ॥६३॥

गरीबों को पुस्तकादि की सहायता ।

भावार्थ–जो निर्धन कुलीन मनुष्य धन के अभावसे अपनी सन्तान की रक्षा शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकते, तथा लज्जावश अनाथाश्रम आदि प्रसिद्ध संस्थाओं में भी नहीं भेजसकते, ऐसे मनुष्यों को अन्न वस्त्र पुस्तक आदि का गुप्तदान स्वयं दें और दूसरों से दिलावें जिस से वे अपने घर में सन्तान की रक्षा शिक्षा का प्रबन्ध सुखपूर्वक करसकें ॥६३॥

विद्यार्थिगृहम् ।

वाञ्छन्त्युत्तमशिक्षणं पुरवरे ग्रामस्थविद्यार्थिनो,
नो चेत्पाकनिवासमन्दिरमिह स्यात्तत्र तद्दुर्दशा ।

नवमपरिच्छेद ।

ग्राम्यशाला ।

यद्ग्रामे शिशुशिक्षणाय न भवेच्छालादिकं साधनं,
सेवास्थानमिदं वरं सुविदुषा विद्यार्थिशिक्षात्मकम् ।
श्रीमन्तोऽपि च शक्नुवन्ति धनतः सम्पाद्य शालामिह,
सेवापुण्यमुपार्जितुं च वितनां कीर्तिं जनाशीर्यच ॥६१॥

गांव में पाठशाला ।

भावार्थ—जिस गांव में बालकों की शिक्षा के साधन पाठशाला आदि न हो तो विद्वान् पुरुष शक्ति अनुसार विद्यार्थियों को विद्याभ्यास करावें, और श्रीमान् पुरुष धनद्वारा से शाला स्थापित करें अर्थात् प्रत्येक मनुष्य विद्यार्थी सेवा के शुभ अवसर को हाथ से न जानें दें कारण कि इस से पुण्य का उपार्जन, कीर्त्तिका विस्तार और जनसमुदाय का आशीर्वाद इत्यादि एक साथ अनेक लाभ होते हैं॥६१॥

शूद्रशिक्षणम् ।

शूद्राणामपि शिक्षणेन चरितं शुद्धं भवेन्नैतिकं,
नश्येद्व्यसनोद्भवं च दुरितं दैन्यं च दूरीभवेत् ।
सेवाक्षेत्रमिदं धनाढ्यविदुषोर्भव्यं विशालं ततः—
स्ताभ्यां शूद्रकशिक्षणार्थमुचितं कार्यं भवत्यो वरः ॥६२

शूद्रशिक्षा ।

भावार्थ—शूद्रों को शिक्षा देने से उन का नैतिक चारित्र पवित्र हो जाता है । जूआ चोरी मदिरापान आदि दुर्व्यसन का नाश होने से उससे होनेवाला पाप तथा दीनता दूर हो जाती है, विद्वान और धनवान दोनों के लिये यह सर्वोत्तम और निशान सेवाक्षेत्र है । अतएव विद्वानों और धनवानों का कर्त्तव्य है कि शूद्रों की शिक्षा का योग्य प्रबन्ध करें ॥ ६२ ॥

दीनाना पुस्तकादिमाहात्म्यम् ।

ये दीनाः स्वसुतान् रक्षितुमल गेहेदरिद्रत्वतो,
नैवाप्यर्पयितु क्षमाः सुविदिते बालाश्रमे लज्जया ।
तेभ्यो गुप्ततयाऽन्नपुस्तकपटान् देहि स्वय दापया—
न्येभ्य' पाठयितु सुतान्निजगृहे यन्ढवनुयुस्ते सुखम् ॥६३॥

गरीबों को पुस्तकादि की सहायता ।

भावार्थ—जो निर्धन कुलीन मनुष्य धन के अभावसे अपनी सन्तान की रक्षा शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकते, तथा लज्जावश अनाथाश्रम आदि प्रसिद्ध संस्थाओं में भी नहीं भेजसकते, ऐसे मनुष्यों को अन्न वस्त्र पुस्तक आदि का गुप्तदान स्वयं दें और दूसरों से दिलावें जिस से वे अपने घर में सन्तान की रक्षा शिक्षा का प्रबन्ध सुखपूर्वक करसकें ॥६३॥

विद्यार्थिगृहम् ।

वाञ्छन्त्युत्तमशिक्षण पुरवरे ग्रामस्थविद्यार्थिनो,
नो चेत्पार्श्वनिवासमन्दिरमिह स्यात्तत्र तद्दुर्दशा ।

तेषां तु खनिवारणाय धनिके र्येनापि सङ्घेन वा,
स्थाप्य शिक्षणधर्मसाधनयुतो विद्यार्थिनामाश्रमः ॥६४॥

छात्राश्रम (बोर्डिंग हाउस)

भावार्थ—ग्रामीण छात्र उच्च शिक्षा पाने की इच्छा रखते हैं किन्तु गांव में ऐसा साधन नहीं है, अतः उन्हें शहर में रहना पड़ता है और वहां पर उनको भोजन शयन आदि के लिये योग्यस्थान न मिलने से बहुत कष्ट सहना पड़ता है। इसलिये श्रीमानों को उचित है कि एक या अनेक मिलकर उनका कष्ट दूर करने के लिये बोर्डिंग स्थापित करें जिसमें शिक्षा और धर्म के उत्तमोत्तम साधन हों ॥६४॥

छात्राश्रमव्यवस्था।

निर्नोथाश्रमवद्भवेद्यमपि क्षेत्र हि सेवार्थिनां,
गन्तव्यं क्रमशो जनैस्त्रिचतुरैश्छात्राश्रमे नित्यशः।
तेषां भोजनपद्धतौ यदि भवेन्न्यूनत्व निवासाल्ये,
तद्दूरे क्रियतां स्वयं हितधिया यद्वाऽधिपायोच्यताम् ॥६५॥

छात्राश्रम की व्यवस्था।

भावार्थ—अनाथाश्रम की भांति यह छात्राश्रम भी सेवार्थी पुरुषों का सेवाक्षेत्र है, छात्राश्रम की देखभाल करने के लिये दो २ चार २ सेवार्थी महाशयों को प्रतिदिन वहांपर जाना चाहिये तथा छात्रों की भोजनादि व्यवस्था में न्यूनता प्रतीत होने पर हितबुद्धि से स्वयं दूर करना चाहिये अथवा आश्रमके अधिष्ठाता को सूचित करना चाहिये ॥६५॥

न्याय्यबुद्धया व्यवस्था।

कुर्युस्ते न परस्परेण कलहं नो दुर्बलानादरं,
वर्त्तेरन् स्वसहोदरा इव सदा योज्यं तथा नायकैः।
को दीनो धनिकश्च कः करुणया दृष्टया निरीक्ष्योऽत्र को,
ज्ञात्वा सर्वमपक्षपातमतिभिः कार्या व्यवस्थाऽखिला॥६६॥

न्यायबुद्धि से व्यवस्था।

भावार्थ—व्यवस्थापक लोग विद्यार्थियों की ऐसी व्यवस्था कर जिस से वे परस्पर कलह न कर सकें, बलवान दुर्बलको न सता सकें, सदा भाई समान व्यवहार करें कौन छात्र धनिक है और कौन दरिद्र है अथवा कौन अधिक दया का पात्र है ऐसा जानकर प्रबन्ध कर्त्ता पक्षपात रहित यथायोग्य सब प्रबन्ध करें अर्थात् ऐसा प्रबन्ध करे जिस में किसी छात्र को कोई कष्ट न हो ॥ ६६ ॥

धार्मिकशिक्षणेनैव विद्यासाफल्यम्।

विद्या धार्मिकशिक्षणेन रहिता नो शोभते सर्वथा,
वस्त्राभूषणभूषिताऽपि महिला शीलेन हीना यथा।
विद्यन्ते सकला कला न सफलाः धर्मेण युक्ता न चे-
द्दीनारः किमु मुद्रयैव लभते मूल्यं सुवर्णं विना ॥६७॥

धार्मिक शिक्षा से ही विद्या की सफलता।

भावार्थ—जैसे वस्त्र आभूषण से सजी हुई स्त्री शील बिना शोभा नहीं पाती, ऐसे ही व्यावहारिक शिक्षा भी धार्मिक शिक्षा के बिना शोभा नहीं पाती, समस्त कलाओं में निपुण होना भी एक धर्मकला बिना

निरर्थक है जैसे सोना मुहर सुवर्ण बिना सिक्के मात्र से मूल्य नहीं पा सकती ॥ ६७ ॥

कीदृशं धार्मिकशिक्षणम् ? ।

स्याच्छिष्टाभिजनोचितं सुचरितं विद्यार्थिनां सर्वदा,
शुद्धं निर्व्यसनं स्वधर्मनिरतं नीत्याश्रितं चोन्नतम् ।
श्रद्धा शुद्धतरा मतिश्च विमला ज्ञानं भवेत्तात्त्विकं,
देयं शिक्षणमीदृशं स्वचरितौपम्येन सच्छिक्षकैः ॥ ६८ ॥

धार्मिक शिक्षा कैसी होनी चाहिये ।

भावार्थ—जिस शिक्षा से विद्यार्थियों का चरित्र सदा सज्जन पुरुषों के योग्य निर्मल व्यसन रहित धार्मिक नीति—अनुकूल और उन्नत बने, धर्मश्रद्धा अत्यन्त शुद्ध रहे, बुद्धि निर्मल होती जावे और तात्त्विक ज्ञान बढ़ता जावे ऐसी शिक्षा उन सच्चरित्र उदार शिक्षकों से मिलें जिन के सदाचार से उक्त शिक्षा का अभ्यास होता रहे।६८।

धार्मिकशालास्थापना।

तस्माद्धार्मिकशिक्षणोन्नतिकृते विद्यार्थिवर्गेऽमले,
सेवातत्परमण्डलेन सुहृदा स्थाप्याः सुशालाः पुनः ।
अज्ञोद्धारधिया परार्थधनिभिः सेवा विधेया श्रिया,
देयं शिक्षणमुत्तमं स्वयमलं सेवार्थिभिः शिक्षकैः ॥ ६९ ॥

धार्मिक विद्यालयकी स्थापना ।

भावार्थ—शुभचिन्तक सेवक मण्डल को निर्मल विद्यार्थी वर्ग में धार्मिक शिक्षा की उन्नति के लिये उत्तम विद्यालय स्थापन करना

चाहिये, उदार बुद्धिवाले परोपकारी धनाढ्यों को चाहिये कि धनद्वारा उक्त विद्यालय की यथेष्ट सेवा करें तथा सेवार्थी शिक्षकों को उचित है कि स्वयं निर्दोष विद्या का अभ्यास करावें, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी२ योग्यतानुसार इस कार्य में सहायक बनकर धर्म सेवा का परिचय दें ॥६९॥

धर्मशिक्षणाभिरुचिसम्पादनम् ।

तत्तद्धर्मपरायणाः सुगृहिणः सर्वेऽपि विद्याकृते,
मैध्येयुस्तनुजान्निजान् प्रतिदिनं काले यथा निश्चिते ।
न स्यात्कारणमन्तरेकदिवसः शून्यो यथा पत्रके,
छात्रे तत्पितरौ तथाविधरुचिं सम्पादयेतामुभौ ॥ ७० ॥

धर्म शिक्षा में रुचि उत्पन्न करना।

भावार्थ—अपने अपने धर्म में तत्पर सब सद्गृहस्थोंको उचित है कि वे अपने पुत्रों को विद्याऽध्ययन के लिये प्रतिदिन नियत समय-पर पाठशाला में भेजा करें, माता पिता को छात्र के हृदय में ऐसी रुचि उत्पन्न करना चाहिये जिससे बालक की एकदिन भी गैरहाजिरी न होने पावे ॥ ७० ॥

सुपरिणामं विना शिक्षणवैफल्यम् ।

किं तद्धार्मिकशिक्षणेन न यतो विद्यार्थिना जीवनं,
जातं धर्मपरायणं दृढतरश्रद्धाऽन्वितं सात्त्विकम् ।
किं चिन्तामणिना यतो विनिहता नैकाऽपि चिन्ता हृदो,
दारिद्र्यं दलितं न येन दुरितं तत्कल्पवृक्षेण किम् ॥७१॥

अच्छा परिणाम न होने पर शिक्षा की निष्फलता ।

भावार्थ—जिस धार्मिक शिक्षा से विद्यार्थियों का जीवन धार्मिक दृढ़ श्रद्धावाला और सात्विक न बने उस धार्मिक शिक्षा से क्या लाभ? वह चिन्तामणि रत्न किस कामका जिस से मन की इच्छा पूर्ण न हो, उस कल्पवृक्ष से क्या लाभ जिस से दरिद्रतारूप दुष्कर्म नष्ट न हो, अर्थात् धार्मिक शिक्षा ऐसी चाहिये जिससे छात्र धर्मश्रद्धालु बनें और सदाचारी बनें ॥७१॥

परीक्षोपायने ।

सप्ताहं प्रतिमासमेकमथवाऽवश्यं परीक्षा सकृद्,
ग्राह्या तत्र परीक्षणे नियमतः शुद्धार्थशुद्ध्यादिकम् ।
छात्रा येऽत्र भवेयुरुन्नततयोत्तीर्णाः सदाऽऽगन्तुका-
स्तेभ्यो देयमुपायनं समुचितं प्रोत्साहनार्थं पुनः ॥७२॥

परीक्षा और पारितोषिक ।

भावार्थ—छात्रों की साप्ताहिक या मासिक परीक्षा सदा होते रहना चाहिये, जिसमें शुद्ध उच्चारण शब्दार्थ भावार्थ और तात्पर्य आदि की जाँच की जाय, और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण हुए छात्रों को तथा हमेशा हाजिर रहनेवालोंको उत्साह बढाने के लिये यथायोग्य पारितोषिक देना चाहिये ॥७२॥

धार्मिकशिक्षणपुस्तकमाला ।

रम्या नीतिकथा महात्मचरितान्याचारमर्माणि वा,
तत्त्वं यत्र सयुक्तिकं सरलया रीत्या निबद्धं भवेत् ।

भाव्य तादृशपुस्तकैरभिनवैः सद्धर्मशिक्षोचितैर्-
निर्मेयानि च तानि पण्डितवरैः सेवार्थिभिः सेवकैः॥७३॥

धार्मिक शिक्षा के लिये पुस्तकें।

भावार्थ–*जिनमें उत्तमोत्तम नीति की कथाएँ और सदाचार पूर्ण* आदर्श पुरुषों के चरित्र हों, धर्म के तत्त्व युक्ति पूर्वक सरलतासे वर्णन किये गये हों, ऐसी छात्रजीवन को आदर्श बनानेवाली पुस्तकें धार्मिक शिक्षा के योग्य होती हैं, उक्त प्रकार की पुस्तकें यदि न हों तो सेवार्थी विद्वानों और लेखकों को तय्यार करना चाहिये ॥७३॥

दशमपरिच्छेदः।

रोगिसेवा।

कश्चिन्नास्त्युपचारको निजगृहे यस्यार्त्तिरोगोद्भवे,
स्याद्वृद्धस्तरुणोऽपि वा स वृषलो वैश्यो द्विजः क्षत्रियः।
मत्वा तं निजबान्धवं सुमनसा सेवा विधेया स्वयं,
पथ्याऽऽौषधदानमिष्टवचनाऽभ्यर्णाऽऽसनाऽभ्यञ्जनैः॥७४॥

रोगियोंकी सेवा।

भावार्थ—जिसके घरमें रोग या दुःखके समय परिचर्या करने वाला कोई नहीं है वह रोग या दुःखसे पीड़ित मनुष्य वृद्ध हो या तरुण, ब्राह्मण हो या शूद्र, वैश्य हो या क्षत्रिय, सबको अपना भाई समझ मिष्टवचनपूर्वक पथ्यभोजन तथा योग्य औषध देकर शान्ति

अच्छा परिणाम न होने पर शिक्षा की निष्फलता।

भावार्थ—जिस धार्मिक शिक्षा से विद्यार्थियों का जीवन धार्मिक दृढ श्रद्धायुक्त और सात्विक न बने उस धार्मिक शिक्षा से क्या लाभ? वह चिन्तामणि रत्न किस कामका जिस से मन की इच्छा पूर्ण न हो, उस कल्पवृक्ष से क्या लाभ जिस से दरिद्रतारूप दुष्कर्म नष्ट न हो, अर्थात् धार्मिक शिक्षा ऐसी चाहिये जिससे छात्र धर्मश्रद्धालु हों और सदाचारी बनें ॥७१॥

परीक्षापायन।

सप्ताहं प्रतिमासमेकमथवाऽब्दस्य परीक्षा सकृद्,
प्राह्या तत्र परीक्षके नियमतः पृष्ठ्याऽर्थशुद्ध्यादिकम्।
छात्रा येऽत्र भवेयुरुन्नततयोत्तीर्णाः सदाऽऽगन्तुका-
स्तेषां देयमुपायनं समुचितं प्रोत्साहनार्थं पुनः ॥७२॥

परीक्षा और पारितोषिक।

भावार्थ—छात्रों की साप्ताहिक या मासिक परीक्षा सदा होते रहना चाहिये, जिसमें शुद्ध उच्चारण शब्दार्थ भावार्थ और तात्पर्य आदि की जाँच की जाय, और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण हुए छात्रों को तथा हमेशा हाजिर रहनेवालों को उत्साह बढ़ाने के लिये यथायोग्य पारितोषिक देना चाहिये ॥७२॥

धार्मिकशिक्षणपुस्तकमाला।

रम्या नीतिकथा महात्मचरितान्याचारमार्गाणि वा,
तत्त्वं यत्र सयुक्तिकं सरलया रीत्या निबद्धं भवेत्।

श्रीमानोंको औषधालय स्थापन करना चाहिये, तथा उत्तमचरित्रवाले साधारण सज्जनों को भी चाहिये कि वे रोगियोंकी सेवा सुश्रूषा करें तथा औषधालयके व्यवस्थादि कार्यमें भाग लेकर उत्तमसेवाका परिचय दें ॥ ७६ ॥

विकलाङ्गिसेवा ।

येऽन्धा, पामरपङ्गुमूकबधिरा दुःख परं भुञ्जते,
तेषां शिल्पकलादिशिक्षणपदं विद्यालयं स्थापयेत् ।
ये योग्या न च शिक्षणे हितकरे ये रक्तपित्तादिता–
स्तेषां रक्षणहेतवे सुहृदयैः स्थाप्यो निवासालयः ॥७७॥

अपाङ्गोंकी सेवा ।

भावार्थ—जो अन्धे लूले लंगडे बहिरे गूंगे आदि अपाङ्ग दुःखसे पीडित हैं उनको शिल्पकला आदि सिखाने निमित्त विद्यालय खोलना चाहिये, तथा बुद्धिकी मन्दतासे या अन्य कारणसे हितकारी शिक्षा पानेके योग्य नहीं है अथवा रक्तपित्तादि रोगोंसे पीडित है उनकी रक्षा के लिये सहृदय पुरुषोंको अनाथखाना स्थापन करना चाहिये ॥७७॥

अपाङ्गसेवाफलम् ।

सम्पूर्णाऽवयवेन्द्रियाणि बहुला सम्पच्चिरं जीवनं,
यच्चारोग्यसुखं बलं च विपुलं प्राप्तं त्वया साम्प्रतम् ।
जानीहि त्वमपाङ्गिनां करुणया सेवा कृता या पुरा,
तस्या एव फलानि तानि कुरु तत्तामेव पुण्यप्रदाम् ॥७८॥

उपन्न करना चाहिये, तथा पासमें बैठकर तैलमर्दन आदि अनेक उपायोंद्वारा हृदय में रोगीकी सेवा करना चाहिये ॥ ७४ ॥

आरोग्यरक्षा ।

जायन्तेऽशुचिवस्तुवृद्धिकरणे क्षुद्रा भृशं जन्तवो,
उत्पाद्यारायमिमे मनुष्यवसतौ कुर्वन्ति रोगोद्गमम् ।
रोग्या अज्ञजनास्तथा हितधिया स्वारोग्यरक्षाकृते,
ग्रामादौ न मलादिकश्चयर विस्तारयेयुर्यथा ॥७५॥

आरोग्य रक्षा ।

भावार्थ—यद मनुष्य अपने घरों या गलियोंमें सडी गली वस्तुएँ डालकर गन्दगी बढ़ाते हैं, इससे डॉस मच्छर आदि अनेक प्रकारके छोटे २ असंख्य जन्तु उत्पन्न होकर बसतीमें अनेक रोग उत्पन्न करते हैं, आरोग्य नियमसे अनभिज्ञ उन मनुष्योंको स्वास्थ्य-रक्षा के लिये प्रेमपूर्वक समझाना चाहिये जिससे ग्राम और नगरमें मैला कूड़ा कर्कट आदि नहीं बढ़ने पावें ॥ ७५ ॥

रोग्यालय ।

ग्रामे वा नगरे न यत्र सुलभं रोगोपचारौषधं,
संस्थाप्य करुणाधियाऽत्र वसतौ रोग्यालयं श्रीमता ।
वैद्यादेश्च विधानतो गदवतां तस्य व्यवस्थाऽऽदितः,
सामान्यैरपि सज्जनैः सुचरितैः सेवा विधेया शुभा ॥७६॥

चिकित्सालय (औषधालय)

भावार्थ—जिस ग्राम या नगरमें रोग दूर करनेके लिये शुद्ध औषधि सर्वसाधारणको सुगमतासे नहीं मिल सकती हो, उस बसतीमें

निरुद्यमिताकारणाना निवृत्ति ।

ईहन्ते बहुल धन च सहसा द्यूतेन केचित्परे,
देवाराधनमन्त्रतन्त्रविधिना स्वर्णादिसिद्ध्याऽपरे ।
ते सर्वेऽप्यलसा निरुद्यमतया नश्यन्ति दारिद्र्यतो,
योग्यास्ते हि भवेयुरुद्यमपरास्त्यक्त्वा निरुक्तभ्रमम् ॥८०॥

निरुद्यमताके कारणोंकी निवृत्ति ।

भावार्थ—कितनेही लोग जूए या सट्टेसे एकदम अधिक धन प्राप्त करना चाहते हैं, कई एक देवताओंको प्रसन्न कर अथवा मन्त्र तन्त्रका साधन कर-धनवान् बनना चाहते हैं और कितनेही सोना आदिकी सिद्धि अर्थात् कीमिया करके दरिद्रता दूर करनेमें प्रयत्नशील हैं, ये सब निरुद्यमी गाठका द्रव्य खोकर दारिद्र्यदुःखका अनुभव करनेवाले हैं, सद्गृहस्थ पुरुषोंको उपदेशद्वारा इनका उक्त भ्रम दूरकर उद्यमी बनाने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥ ८० ॥

निरुद्यमानामुद्यमपदारोपणम् ।

येषा नास्ति सदुद्यमो न च धन निर्वाहयोग्य गृहे,
याचन्ते गृहिणोऽपि ते विधिहता दातुः सकाशे धनम् ।
नैभ्यो देहिधन यतः पुनरपि स्यात्तादृशी तद्दशा,
किन्तूद्योगपरायणांश्च कुरु तान् यन्निर्वहेयुः स्वयम् ॥८१॥

निरुद्यमियोंको उद्यममें लगाना ।

भावार्थ—जिनके घरम निर्वाह योग्य धन नहीं तथा उत्तम धधा भी नहीं ऐसे लोग कुटुम्बवाले होकर भी दुर्भाग्यवश दाताओं के

अपाङ्गकी सेवाका फल।

भावार्थ—हे मानव ! इस समय जो तुझे सम्पूर्ण और सुन्दर शरीरके अवयव, सुघड़ पाँचों इन्द्रियाँ, विपुल धनसम्पत्ति, दीर्घ आयु, नीरोगताका सुख, शारीरिक मानसिक तथा वाचनिक यथेष्ट बल आदि प्राप्त हुए हैं उन्हे पूर्वजन्ममें करुणापूर्वक कीगई अपाङ्गसेवाका फल समझ। यदि तुझे औरभी सुखकी इच्छा है तो परमपुण्यदायिनी इस अपाङ्गसेवाको अङ्गीकार कर ॥ ७८ ॥

एकादशपरिच्छेद ।

निरुद्यमितारूपरोगस्य निवारणम् ।

श्रीमन्तोऽपि निरुद्यमा यदि तदा दीना भवन्ति क्रमात्,
सामान्यस्य तु का कथा व्यवहृतौ रोगस्ततोऽयं महान् ।
दारिद्र्योपहता बुभुक्षिततया कुर्वन्ति पापं न किं ?
रोगस्याऽस्य निवारणे सुकृतिभिर्यत्नो विधेयस्ततः ॥७९॥

निरुद्यमतारूप रोगका निवारण ।

भावार्थ—साधारण मनुष्यकी तो बातही क्या श्रीमान् पुरुष भी उद्योगहीन होनेसे धीरे २ दरिद्र हो जाते हैं, वास्तवमें यह निरुद्योग व्यवहारमें बड़ा भारी रोग माना गया है, दरिद्रतासे पीड़ित मनुष्य भूख के मारे क्या क्या पाप नहीं करते ? अत एव इस निरुद्यमता रूप रोगको दूर करनेके लिये योग्य परिश्रम करना चाहिये ॥ ७९ ॥

श्रमजीवियों की सेवा ।

भावार्थ—जो श्रमजीवी शरीर की परवाह न करे मिल आदि कारखानों में बड़े परिश्रम से रातदिन काम करते हैं उनको अपने कुटुम्बपालन निमित्त उचित मजूरी देनी चाहिये, जिन को मर्यादा से अधिक स्वास्थ्य को हानि पहुंचानेवाला श्रम करना पड़ता हो अथवा और कोई अत्याचार होता हो तो उनकी सहायता करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है ॥ ८३ ॥

कर्मकरसद्वर्तनशिक्षणम् ।

एते कर्मकरा निवृत्तिसमये सप्ताहसप्ताहके,
व्याख्यानेन च शिक्षया बुधवरैर्योग्यास्तथा बोधकैः ।
कुर्युर्नैव परस्परेण कलहं नैवापि सार्द्धं परै-
र्द्यूतादिव्यसनं व्ययं च विफलं पानं सुरायास्तथा ॥८४॥

मजूरों को सद्वर्तन की शिक्षा ।

भावार्थ—विद्वानोंको उचित है कि मजूरों को अवकाश के समय प्रतिसप्ताह व्याख्यान देकर अथवा सिक्षा पढ़ाकर उनमें इतनी योग्यता अवश्य उत्पन्न करें कि वे आपस में या दूसरों के साथ कलह न करने पावें और जूआ मदिरापान आदि तथा फिजूलखर्ची से मुँह मोड़ दें ॥ ८४ ॥

निकट याचना करते फिरते हैं, ऐसी स्थिति में द्रव्य देने से थोड़ा सङ्कट तो निवारण हो सकता है, परन्तु ऐसा करनेसे उनकी आदत बिगड़ जायगी और वही दशा बनी रहेगी, अतः उन्हें द्रव्य न देकर ऐसे उद्योग में लगाना चाहिये जिस से वे स्वयं अपना निर्वाह कर सकें ॥ ८१ ॥

कृषिकारसेवा ।

ये कुर्वन्ति परिश्रमेण सततं कृष्यादिकार्यं निजं,
धान्यं जीवनसाधनं जनपदे संपूरयन्ति स्वयम् ।
तेषामाक्रमणं भवेद्यदि नृपाद् व्यापारिवर्गात् पुनः–
रक्ष्यास्तेऽपठितास्तदा कृपिकरा सेवार्थिभिः सज्जनैः ॥८२॥

किसानों की सेवा ।

भावार्थ–जो किसान शीत उष्ण और वर्षा का घोर कष्ट सहकर शारीरिक श्रमद्वारा अपना कृषिकार्य करते हैं और जीवन का साधन अन्न उपजा कर देशको सुख की नींद सुलाते हैं, उन अन्नदाता किसानों पर राजा अथवा व्यापारी वर्ग अत्याचार करें तो उदार सेवार्थि पुरुषों का कर्तव्य है कि वे शान्तिपूर्वक अत्याचारको रोकें और उनको पढ़ा लिखा कर शिक्षित बनावें ॥ ८२ ॥

कर्मकरसेवा ।

येऽनादृत्य शरीरसंस्कृतिविधिं यन्त्रालयादिस्थले,
कार्यं कर्मकराः श्रमेण महता कुर्वन्ति रात्रिन्दिवम् ।
तेषां स्यात् स्वकुटुम्बपोषणमलं तावद्भृतिं दापय–
न्नात्यन्ताक्रमणं श्रमाधिकतया रक्ष्यास्तथा तेऽखिलाः॥८३॥

श्रमजीवियों की सेवा ।

भावार्थ—जो श्रमजीवी शरीर की परवाह न करे मिल आदि कारखानों में बड़े परिश्रम से रातदिन काम करते हैं उनको अपने कुटुम्बपालन निमित्त उचित मजूरी देनी चाहिये, जिन को मर्यादा से अधिक स्वास्थ्य को हानि पहुचानेवाला श्रम करना पड़ता हो अथवा और कोई अत्याचार होता हो तो उनकी सहायता करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है ॥ ८३ ॥

कर्मकरसद्वर्तनशिक्षणम् ।

एते कर्मकरा निवृत्तिसमये सप्ताहसप्ताहके,
व्याख्यानेन च शिक्षया बुधवरैर्बोध्यास्तथा बोधकैः ।
कुर्युर्नैव परस्परेण कलहं नैवापि सार्द्धं परैः—
र्द्यूतादिव्यसनं व्ययं च विफलं पानं सुरायास्तथा ॥८४॥

मजूरों को सद्वर्तन की शिक्षा ।

भावार्थ—विद्वानोंको उचित है कि मजूरों को अवकाश के समय प्रतिसप्ताह व्याख्यान देकर अथवा शिक्षा पढ़ाकर उनमें इतनी योग्यता अवश्य उपन्न करदें कि वे आपस में या दूसरों के साथ कलह न करने पावें और जूआ मदिरापान आदि तथा फिजूलखर्ची से मुँह मोड़ लें ॥ ८४ ॥

द्वादशपरिच्छेद ।

विधवासेवा ।

यासां कोऽपि न विद्यते निजकुले पोष्योऽथवा पोषक–
स्तादृश्यो विधवाश्रमे हि विधवा अर्हन्ति संरक्षणम् ।
कर्त्तव्यं विधवोचितं च सरला निर्वाहयोग्या कला,
सेवा धार्मिकतत्त्वबोधसहिता तत्रार्थतः शिक्षयेत् ॥ ८५ ॥

विधवाओंकी सेवा ।

भावार्थ—जिन विधवाओं के कुटुम्ब में न तो कोई पालन करने योग्य सन्तान है और न कोई पोषण करनेवाला पुरुष ही है ऐसी विधवाएँ विधवाश्रम में सुरक्षित रखने योग्य हैं । वहां पर इनको विधवाओंके योग्य कर्त्तव्य और घर बैठे निर्वाह के लिये सीनापिरोना कसीदा करना आदि की शिक्षा देनी चाहिये, तथा धार्मिकज्ञान के साथ२ वास्तविक सेवा के पवित्र भाव इनके हृदय में अङ्कुरित करने चाहिये ॥ ८५ ॥

विधवाऽऽजीविकाप्रबन्ध ।

पुत्रादिप्रतिबन्धतो निजगृहं त्यक्तुं न सन्ति क्षमा–
या देयाग्निजमन्ततेरपि गृहे कर्तुं न रक्षामलम् ।
तासां कोऽपि कुले भवेद्यदि धनी तेन व्यवस्थाप्यता,
नो चेन्मण्डलसज्जनैः सम्मुचितः कार्यं प्रबन्धः स्वयम् ॥८६॥

विधवाओंकी आजीविका का प्रबन्ध ।

भावार्थ—जो विधवाएँ पुत्रादि के वचन से अपने घर को नहीं छोड़सकती और द्रव्य के अभाव से घरमें बैठी रहकर अपनी सन्तान की रक्षा भी नहीं करसकती, ऐसी स्थिति में कुटुम्ब के धनवान् पुरुषों को उनकी भोजनादि व्यवस्था करनी चाहिये यदि उक्त साधन न होतो सेवासमिति के सज्जनों को उचित है कि वे इन अनाथ-विधवाओंका उचित प्रबन्ध करें ॥ ८६ ॥

विधवाना नियमनमर्यादा ।

स्वातन्त्र्यान्न भवेयुरुद्धततरा नाचारहीना यथा,
तावन्नेतृजनैश्च तन्नियमनं कार्यं यथावश्यकम् ।
याः सत्यो विधवाः स्वभावसरलाः स्वीयैर्जनैर्निर्दयैः,
पीड्यन्ते किल पीडनात् सपदि ता मोच्याः स्वयंसेवकैः ॥८७॥

विधवाओंपर अङ्कुश की मर्यादा ।

भावार्थ—विधवाएँ स्वतन्त्र होकर स्वच्छन्द तथा आचारहीन न बनजाँय इसलिये उनपर कुटुम्ब के नायकोंका उचित अङ्कुश रहना परमावश्यक है, जो सुशील सरलस्वभाववाली विधवाएँ कुटुम्ब के निर्दयीलोगों से बिना कारण सतायी जाती हों स्वयंसेवकों का कर्त्तव्य है कि उन निरपराधिनी अबलाओं को उक्त आपत्ति से छुड़ावें ॥ ८७ ॥

पूछना तथा मीठे वचना से धैर्य बंधाना चाहिये। निकालने और पढ़ने के लिए रुचिकर रचना का निरन्तर साथ सुखमें कपड़े बदल देना तथा भोजनादि का उचित व्यवस्था करना आवश्यक है और उनके सामने स्वर्गी तथा आत्ममें शान्ति उत्पन्न करनेवाली धार्मिक पुस्तक पढ़ना चाहिये जिस से उन का परिणाम निर्मल बने रहें॥९१॥

वृद्धानामानुकूल्यसम्पादनम् ।

चिन्तैषां यदि भाति काऽपि हृदये युक्त्या द्रुतं तां हरेद् ,
रोगः कोऽपि भवेत्तदा नु भिषजा योग्यौषधं योजयेत् ।
वैषम्यं प्रकृतौ भवेद् यदि तदा सद्बोधविज्ञापनैः ,
क्रोधद्वेषविषादलोभहरणात् साम्यं च सम्पादयेत् ॥९२॥

वृद्धों के अनुकूल आचरण करना ।

भावार्थ—वृद्ध मनुष्यों के चित्तमें किसी प्रकार की चिन्ता रहती हो तो युक्तिद्वारा उसको दूर करना चाहिये, रोग उत्पन्न होने पर वैद्यकी सम्मति से योग्य औषध की योजना करना तथा प्रकृति में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होनेपर उत्तम शिक्षा और उपदेशद्वारा क्रोध द्वेष विषाद और लोभ का परिहार कर समता उत्पन्न करना चाहिये ॥ ९२ ॥

वृद्धानां समाधिमरणसम्पादनम् ॥

यद्येषां मरणं विभाति निकटं दृष्टा यरोगोद्भवात् ,
प्रत्याख्यानसमाधिभावजननैराराधनां कारयेत् ।

चित्त शान्तिपरायण भगवतो ध्याने निमग्नं भवेत्,
स्यादेषा हि यथा समाधिमरण यत्न विदध्यात्तथा ॥९३॥

अन्तिम अवस्था में वृद्धोंका समाधिमरण ।

भावार्थ—असाध्य रोग उत्पन्न होनेपर जिन वृद्ध लोगों की मृत्यु निकट प्रतीत होने लगे उनको सम्पूर्ण वस्तुओंका त्याग करवाना चाहिये, तथा शान्ति उत्पन्न कर धर्म की आराधना करवाना चाहिये और ऐसा यत्न करना उचित है जिस से उनका चित्त शान्तिरसमें लीन होकर भगवान् के ध्यान में लगा रहे और समाधिपूर्वक मरण हो॥९३॥

चतुर्दश. परिच्छेदः ।

पशुरक्षणम् ॥

यस्या दुग्धघृतादिना नरतनु पोपुष्यते सर्वथा,
वाणिज्य कृपिकर्मभारवहनं यज्जातिमालम्बते ।
सा रक्ष्या पशुजातिरुत्तमजनैः कर्त्तव्यसेवाधिया,
हिंसातो वलितोऽतिभारभरणात् क्रौर्याद् भृश ताडनात्॥९४॥

पशुरक्षा ।

भावार्थ—जिन के दूध और घी से मनुष्यका शरीर परिपुष्ट होता है, जो जाति वाणिज्य कृषि और भार लादने के ... ी है। मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है कि सेवाबुद्धि से ऐसी

जाति का, बलिदानार्थ तथा अन्यनिमित्तसे होती हुई हिंसाको रोके, और मर्यादा से अधिक भारलादना तथा बुरीतरह से पीटना इत्यादि अत्याचारों से उसकी रक्षा करे ॥ ९४ ॥

। पशु (पक्षि) वधप्रतिबन्ध ।

। घ्नन्ति पशुपक्षिणश्च बहुशो मांसास्थिमेदाऽजिने,
तस्य स्यादुपयोजनं प्रतिदिनं न्यूनं तथा बोधयेत् ।
देवा नो पशुमांसभक्षणपरा इत्येवमावेद्य तान् ,
भ्रातान् युक्तिपुरस्सरं बलिविधे कार्यो निरोधो द्रुतम्॥१०५॥

पशुपक्षिहिंसा का निरोध ।

भावार्थ—मांस हड्डी चर्बी और चमड़े के निमित्त बहुत पशु वध किये जाते हैं, अतः उक्त वस्तुओंका उपयोग प्रतिदिन कम होता जाय ऐसा उपदेश करना चाहिये, जितनेही मनुष्य बलिदाननिमित्त पशुओं की हिंसा कियाकरते हैं उनको सुयुक्तियोंद्वारा समझाना चाहिये कि देव तो अमृतभोजी है अन्नभोजी सत्पुरुष भी अपवित्र मांस को छूना पापजनक समझते हैं तब सर्वोत्कृष्ट देव ऐसे अशुचि मांस का भक्षण कैसे करेंगे ? इत्यादि [illegible] उनको रोकना चाहिये ॥

दौर्बल्ये गदसभवे पशुपती रक्षेत् पशु यत्नतो-
भाव्य तादृशशासनैर्नरपते राज्ये हितार्थ पशोः ॥ ९६ ॥
न स्युस्तादृशशासनानि विषये यस्मिन दया भारत-
स्तत्रोत्पाद्य दयाञ्च दृढतर नव्यानि निर्मापयेत् ।
पाल्यन्ते न च तानि सन्त्यपि जने राज्याऽव्यवस्थादित-
स्तेषामादरपूर्वपालनविधौ कुर्यात् प्रयत्न शुभम् ॥ ९७ ॥

पशुरक्षा के नियम ।

भावार्थ—उत्तम राजा के राज्य में पशुरक्षा निमित्त ऐसे नियम होने चाहिये कि कोई भी गाड़ी आदि में मर्यादा से अणुमात्र भी अधिक भार न लाद सके, वृद्ध अथवा बलहीन बैल वगैरह को जोतने न पावें तथा दुर्बल या रोगी पशु की उसका स्वामी यत्नपूर्वक रक्षा करे। जिस देश में पशुरक्षा के ऐसे नियम न हों तो वहां के लोगों में दया-भाव उत्पन्न कर नवीन और सुदृढ नियम बनवाने चाहिये, जिस देश में नियम तो बने हों किन्तु राज्य की अव्यवस्था आदि कारणोंसे लोग उनकी पालना न करते हों तो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिस से उन नियमों का आदरपूर्वक पालन होता रहे ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

पशुघातवृद्धपशुरक्षणम् ।

नो यावत्तृणभक्षकाः क्षितितले पोताः पशूना स्वय,
तावत्ते निजमातुरेव पयसा पोष्याः पशुस्वामिभिः ।
विक्रय्यो न विघातकाय विगते स्वार्थेऽपि देय तृण-
मित्थं शासनपद्धतिं नृपगुरुद्वारा च निर्मापयेत् ॥९८॥

बच्चे और वृद्ध पशुओंकी रक्षा ।

भावार्थ—बछड़े पाड़े आदि पशुओं के बच्चे जबतक स्वयं जमीनपर की घास खाकर अपना पेट न भरसकें तबतक पशुस्वामियों को उचित है कि उन बच्चों को माता का दूध पिलाकर ही पोषण करें अर्थात् उनका अपनी माता से वियोग न करें, तथा अपना स्वार्थ सिद्ध होजानेपर कोई भी मनुष्य पशुओं को कसाई वगैरह के हाथ बेचने न पावे, और वृद्ध तथा बलहीन पशुओं को उनके स्वामी समय पर घास पानी देते रहें आवारा न फिरने दें, ऐसा नियम राजा से अथवा राजगुरु से बनवावे ॥ ९८ ॥

पञ्जराप्रव्यवस्था ।

वृद्धा दुर्बलरोगिणः क्षतहता निर्नाथका व्यङ्गका,
निःशक्ताः पशवो बुभुक्षितनरा नेयाः सुपञ्जरालये ।
भैषज्येन च रोगिणां क्षतवतां कुर्यात् स्वयं सेवनं,
मन्येषामपि रक्षणाय तनुयात्तत्र व्यवस्थां वराम् ॥९९॥

पिंजरापोल की व्यवस्था ।

भावार्थ—जो पशु वृद्ध दुबले रोगी या जख्मी होगये हों आवारा फिरनेवाले अशक्त अपाङ्ग या भूखे मरनेवाले हों ऐसे पशुओं को पिंजरापोल में लेजाना चाहिये और वहांपर उन रोगी या जख्मी पशुओं की दवा मरहमपट्टीद्वारा स्वयं सेवा करे और दूसरों से भी करावे, इसी प्रकार अन्य पशुओं की रक्षाका भी योग्य प्रबंध करना

पञ्चदश परिच्छेदः ।

ज्ञातिमध्याऽऽन्तर्भेदपरिहार ।

तुल्याचारकुटुम्बसंहतितया ज्ञातिः समारभ्यते,
विस्तीर्णा हि यथा यथा भवति सा तस्या बलं स्यात्तथा ।
सा भेदैर्यदि खण्डिता बहुविधैः क्लेशावहा स्यात्तदा,
तस्मादान्तर भेद खेदहरणे यत्नो विधेयः परः ॥१००॥

जाति के अन्तर्गत भेदका परिहार ।

भावार्थ—समान आचारविचार वाले तथा समान रीति रिवाज वाले कुटुम्बों के मिलने से जाति की रचना होती है ज्यों ज्यों यह कुटुम्बसमूह बढताजाता है त्यों त्यों उसका बल भी बढताजाता है अर्थात् जाति जितनी विशाल होती है उतने अंशमें वह बलिष्ठ गिनी-जाती है तथा अपनी और परकी रक्षा करने में समर्थ होती है, किन्तु जब उसका अंग अनेक प्रकार के भेदोंसे खण्डित होजाता है तब वह बलहीन होकर अनेक दुःखों का अनुभव करती है इसलिये जातिके अंतर्गत भेद दूर करने का पूर्ण उद्योग करना चाहिये ॥१००॥

ज्ञातिनायकव्यवस्था ।

नेतृत्वं न कुलक्रमागतमलं किन्तूत्तमैः सद्गुणै-
र्न्याय्यं यदि तन्नतेऽल्पमपि ये किं तैः फलं नायकैः ।
स्वार्थं साधयितुं मनागपि वरानिष्टं वितन्वन्ति ये,
तन्नेतृत्वविवर्त्तनेन जनता सेवा समापद्यते ॥१०१॥

वृद्धविवाह आदि कुप्रथाओं का परिहार ।

भावार्थ—एक स्त्री के दो पति होना वास्तव में अन्याय और असंगत है, ऐसा ही यह भी उचित है कि एक पत्नीव्रत धारण कर विशेष कारण बिना दूसरी स्त्री से पाणि ग्रहण न करे और वृद्धावस्था या अल्प वय में विवाह कर बेचारी अबलाओं पर अत्याचार न करें, जिस जाति में वृद्धविवाह या अनुचित बहुविवाह होते हों उस जाति के हितैषी विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे पूर्ण आन्दोलन कर इन कुप्रथाओं का समूल नाश करें और जातिसेवा का परिचय दें ॥ १०४ ॥

षोडश परिच्छेद ॥

जन्मभूमि ।

यैर्धान्यजलानिलैः शुभतरैः पुष्टिं गता ते तनु-
स्तेषां देशोन्नतयेऽस्तु ते धनमनस्तन्वर्पणं सर्वथा ।
या भूमिर्जननीव पालनपरा स्वर्गादपि श्रेयसी,
तस्याः स्वल्पमनिष्टचिन्तनमहो ! तज्ज्ञस्य पापावहम् ॥१०५॥

स्वदेश सेवा ।

भावार्थ—जिस देश के उत्तम अन्न जल और वायु से तुम्हारा शरीर पुष्ट हुआ है तुम्हारा कर्त्तव्य है कि उस देश की उन्नति के लिये अपना तन मन और धन अर्पण कर दो, जो भूमि माता के समान

पालन पोषण करनेवाली है तथा स्वर्ग से भी अधिक सुख देनेवाली है उस भारतमाता का किञ्चित्मात्र बुरा चिन्तन करना उस की सन्तान के लिये महापाप का कारण है ॥ १०५ ॥

जनपदजागरिका।

को दुःखी सुखिनश्च के जनपदे चिन्त्यं तदेतत् सदा,
स्याद्दुःखं यदि कस्यचित् किमपि तद्धन्यान्निजैः साधनैः।
द्यूतादिव्यसनेषु कोऽपि पतितश्चेत् सत्पथे तं नयेद्,
बीजं स्यात् कलहस्य चेज्जगति तद्युक्त्या दहेत् सर्वथा १०६

। स्वदेशका हितचिन्तन ।

भावार्थ—देश में कौन दुःखी है और कौन सुखी है सहृदय पुरुषों का सदा ऐसा विचार करना चाहिये यदि कोई दुःखी प्रतीत हो और अपने पास उसके दुःख दूर करने का साधन भी हो तो उचित है कि उसका दुःख तुरन्त दूर करदे, कोई मनुष्य जूआ चोरी आदि दुर्व्यसनों में फसा हो सज्जन पुरुषों का कर्त्तव्य है कि प्रयत्न कर उसे उत्तम मार्ग पर लेआवे, तथा देश समाज या जाति में कलह मचा हो सुयुक्तियोंद्वारा उसका मूल कारण मिटाकर शान्ति स्थापित करें ॥१०६॥

स्वदेश्याचारपालनम्।

देशं स्वं न कदाऽपि विस्मरति यो गत्वाऽपि देशान्तरं,
जयान्नो निजदेशवेषरचना देशाभिमानी जनः।
स्वाचारं विजहाति चञ्चलमना प्राप्याऽऽङ्ग्रजात्यर्चितं,
देशद्रोहकरोऽधम• स पुरुषो धर्माधिकाराच्च्युतः॥१०७॥

स्वदेश-आचार की पालना।

भावार्थ—जो मनुष्य विदेश में जाकर भी अपनी जन्मभूमि को कभी नहीं भूलते तथा अपने देश का पहनाव रहन सहन और आचार विचार को नहीं छोड़ते हैं वेही देशाभिमानी हैं, किन्तु मनचले पुरुष विदेशमें जाकर प्राचीन जातीयआचार और देशआचार को छोड़ देते हैं वे देशद्रोही और अधम हैं उन को धर्म और देश से पतित समझना चाहिये ॥ १०७ ॥

स्वदेश्यवस्तूपभोग।

देशोद्योगविवर्द्धनाय वपुषश्चारोग्यरक्षा कृते,
दीनानां निजदेशिनां करुणया दारिद्र्यविच्छित्तये।
युज्यन्ते वसनानि भोज्यमखिलं भोग्यानि वस्तून्यपि,
देश्यान्येव विभूषणान्यमलयो स्त्रीपुंसयोः सर्वथा ॥१०८॥

स्वदेशी वस्तु का उपयोग।

भावार्थ—स्वदेश के उद्योग को उत्तेजना देने के लिये शरीर की आरोग्यरक्षा के लिये तथा अपने देश के गरीब मनुष्योंपर करुणा कर उनका दारिद्र्य दूर करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को पहिनने के सब वस्त्र, खाने पीने की सम्पूर्ण सामग्री तथा स्त्री पुरुष के सब आभूषण इत्यादि समस्त उपभोगमें आनेवाली वस्तुएँ स्वदेश की बनी हुई होनी चाहिये और उन्हीं को काम में लाना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है ॥ १०८ ॥

देशोपद्रवनाशनम् ।

देशः स्यान्निरुपद्रवो नृपतिना श्रेष्ठेन संरक्षित-
स्तद्धर्मसमाजरक्षणमथो विज्ञानवृद्धिस्तदा ।
देशे कोऽपि समुद्भवेदभिभवो बाह्योऽथवाऽभ्यन्तर-
स्तन्नाशे यतितव्यमुत्तमजनैर्धर्मादिरक्षाकृते ॥१०९॥

देश के उपद्रवका नाश ।

भावार्थ--जब देश उत्तम राजा से सुरक्षित होकर उपद्रवरहित होता है तब देश में धर्म और समाज की रक्षा ही नहीं बल्कि विज्ञान की पूर्ण वृद्धि होती है, देश को यदि कोई बाह्य या अभ्यन्तर उपद्रव सताने लगे तो उदारपुरुषों का कर्त्तव्य है कि उन उपद्रवोंका नाशकर, धर्म और समाज की रक्षा करें ॥१०९॥

स्वचक्रपरचक्रतो देशरक्षणम् ।

देशस्याऽऽक्रमणं यदा स्वपरयोश्चक्रेण सम्पद्यते,
स्वास्थ्यं नश्यति जायते क्षतिततिर्द्रव्यादिहान्या भृशम् ।
साहाय्यं करणीयमत्र समये तद्देशवास्तव्यकैः,
सर्वैरेव जनैर्धनेन वपुषा बुद्ध्या तथा सेवया ॥ ११० ॥

स्वचक्र और परचक्र से देश की रक्षा ।

भावार्थ--जब स्वचक्र या परचक्रद्वारा देशपर आक्रमण होता हो, प्रजाका स्वास्थ्य बिगड़ता हो, द्रव्य आदि की हानि के साथ साथ अनेक प्रकारकी हानि होती हो अर्थात् मरी प्लेग हैजा आदि रोगोंका उपद्रव होता हो ऐसे समय में देशवासी मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है कि तन मन धन और सेवा द्वारा देश की सहायता करें ॥११०॥

अधिकारिणामुपद्रवनिवर्त्तनम्।

ये राज्ञा निजदेशरक्षणतया योग्ये पदे स्थापिता,
स्युस्ते पामरभक्षका यदि नृपाऽमात्यादयोऽन्यायिनः।
संसाध्यैक्यदलं तदाऽखिलजनैस्तद्देशवास्तव्यकैः,
कार्यं तत्परिवर्त्तनं विनयतो राज्ञे निवेद्यात्मकैः ॥१११॥

अधिकारियों के उपद्रव का निराकरण।

भावार्थ—राजा ने जिनको अपने देश की रक्षा निमित्त उच्च पद पर नियत किया है वे अधिकारी लोग यदि अन्यायी होकर प्रजा रक्षक की जगह प्रजा भक्षक बनजायें तब देशनिवासी उत्तम पुरुषों का कर्त्तव्य है कि सब एकमत हो राजा से विनय पूर्वक निवेदन करें और उस अत्याचारी अधिकारी वर्ग का परिवर्त्तन करावें ॥१११॥

आपत्कालीनसेवा।

भूकम्पादिकदैवकोपजनितापत्तिः कदाचिज्जने,
देशे क्वाऽपि समागता यदि महाऽऽनर्थक्यसम्पादिनी।
गत्वा तत्र सहैव साधनभरैरापद्गतानां नृणां,
साहाय्यं समयोचितं सुखकरं कर्त्तव्यमर्थादिभिः ॥११२॥

आपत्ति के समय सेवा।

भावार्थ—जब कभी अपने देश के किसी भाग में भूकम्प अग्निकाण्ड अतिवृष्टि प्लेग हैजा आदि प्रजा का संहार करनेवाली दैविक आपत्तियां उपस्थित हों उस अवसरपर स्वयंसेवक रक्षा के साधन जुटाकर घटनास्थल पर पहुँचें और आपत्तिग्रस्त मनुष्यों की समयानुकूल सहायता करके उन्हें शान्ति और सुख पहुँचावें ॥ ११२ ॥

द्वितीयखण्डः ।

प्रथमपरिच्छेदः ।

आत्मदृष्टिः ।

जगत्सेवायामात्मसेवा ।

एषोऽय समयो मनुष्यजनुषो लब्धुं सत्कृष्ट फल,
तत्सेवैव निजात्मनश्च जगतो निष्कामबुद्ध्या परा ।
केचित् कारणकार्यभावमनयोराहुस्तदेक मत,
सम्यक्तत्त्वविचारणे तु जगतः सेवैव सेवात्मन' ॥११३॥

जगत्सेवामें आत्म सेवा ।

भावार्थ—देश की सेवा करनेके बाद मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम फल प्राप्त करनेका समय आता है । वह फल सेवा ही है । चाहे आत्म सेवा हो अथवा निष्कामबुद्धि से ससार की सेवा हो । कोई कोई आत्म सेवा और जगत्सेवा का परस्पर कार्यकारणभाव अर्थात् जगसेवा से आत्मसेवा और आत्मसेवा से जगसेवा होती है ऐसा मानते हैं । किन्तु असली स्वरूप पर विचार करने से मालूम होता है कि जगसेवा ही आत्मसेवा है और आत्मसेवा ही जगत्सेवा है ॥११३॥

जगत्सेवा ।

कृत्वा सेवनया मनः स्वस्य जगत्सेवा समुद्धारिणी,
यद्वा च जगतो विधाय परितः सेवां विधेयात्मनः ।
सेवोद्धारमयी मताऽत्र जगतः सा चेत्प्रवृत्त्यात्मिका,
निष्कामस्य न च गाढबन्धजनिका न्यूना निवृत्त्या न सा ॥ ११४ ॥

संसार की सेवा ।

भावार्थ—चाहे आत्मसेवा करलेने बाद विश्व का उद्धार करने वाली संसार की सेवा करें अथवा संसार की सेवा करने के पश्चात आत्मसेवा करो दोनों ही समान हैं । यहां पर सेवा शब्द से तात्पर्य भक्ति तथा या परिश्रम इत्यादि सहायता पहुंचाने का नहीं है किन्तु संसार को दुःख से छुड़ाने का है । यद्यपि यह सेवा प्रवृत्तिरूप है तो भी इस में निष्काम बुद्धि होने से न तो यह गाढ़—कर्मबन्ध का कारण है और न निवृत्ति—मार्ग से किसी प्रकार कम है । अर्थात निष्कामप्रवृत्ति भी निवृत्ति—समान ही है ॥११४॥

विश्वप्रेम ।

विश्वप्रेमनिबन्धनाय करुणा धर्मस्य रक्षाकृते,
रागद्वेषनिवारणाय समता भावाविरोधाय च ।
मध्यस्थत्वमसमानमेतदखिलं दुःखे सुखे वा जगत्—
सुखे प्राणिगणं कुटुम्बसमकं नक्तंदिवं भावय ॥ ११५ ॥

विश्वप्रेम ।

भावार्थ—समस्त संसार के साथ प्रेम का बन्धन बांधने के लिए

न्यायधर्म की रक्षा के लिए, रागद्वेष का निवारण करने के लिए तथा समताभाव की सीढ़ी पर पाव रखने के लिए सुख तथा दुःख में सम्पूर्ण लोक को अपने समान समझो। तथा समस्त प्राणियों को अपने कुटुम्बियों की तरह मानने की रात दिन भावना करो ॥११५॥

विश्वप्रेमिणः सर्वोत्तमत्वम्।

आत्मीयं जडदेहमेव मनुते सर्वाधमो मानवः,
पुत्राद्यं मनुजोऽधमो निजकुलं ग्रामं पुनर्मध्यमः।
सोऽयं मानव उत्तमो जनपदं नैजात्मवन् मन्यते,
यो विश्वं निखिलं विशालहृदयः सर्वोत्तमोऽसौ नरः ॥११६॥

मन से उत्तम विश्वप्रेमी।

भावार्थ—जो अपने स्थूल जड शरीर को ही अपना मानता है वह मनुष्य अधम में भी अधम है। जो पुत्र स्त्री आदि अपने कुटुम्बियों को अपना समझता है वह अधम है। अपने गाँववालों को अपना माननेवाला मनुष्य मध्यम तथा स्वदेश अर्थात् जन्मभूमि को सदा अपने रूप माननेवाला उत्तम है। सर्वोत्तम मनुष्य वह है जिस के विशाल हृदय में सारा संसार निजरूप से प्रतिभासित हो रहा है ॥ ११६ ॥

चैतन्यदृष्ट्या जगन्निरीक्षणम्।

हत्वा मोहनलं विहाय ममतां स्वीये निरुद्धां कुले,
पश्य त्वं निखिलं जगद्धिततया चैतन्यदृष्ट्या सदा

वैराग्याभ्यासः ।

भूशय्या स्वभाजनस्मास सर्वदानादिभि,
सदाचारविचारपालनपराऽभ्यासो विधेयश्चिरम् ।
तत्र चेन्द्रियनिग्रहेण मनसो दान्त्यात्मशान्त्या पर,
वैराग्य परिशीलनीयमुचित वर्ष द्विवर्षावधिम् ॥ १२० ॥

वैराग्य का अभ्यास ।

भावार्थ—वैराग्य को दृढ करने के लिये एक दो वर्ष तक वैराग्य का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् भूमिपर सोना, रूखा सूखा भोजन करना तथा स्त्री का समागम नहीं होने देना चाहिये । इस प्रकार साधुओं जैसा आचरण पालन करते हुए इन्द्रिय का दमन और मन का निग्रह कर आत्मशांति पूर्वक वैराग्य का अभ्यास करना चाहिये ॥ १२० ॥

शास्त्राध्ययनम् ।

सदाचारविचारबोधजनक शास्त्र यथानुक्रम,
ज्ञानार्थं पठितव्यमादरधिया स्थित्वा समीपे गुरोः ।
तत्त्वज्ञानविशिष्टशास्त्रनिवहाऽभ्यासोऽपि कार्यो मुदा,
सन्मार्गादिविनिश्चयाय सुधिया जिज्ञासुना श्रेयसे॥१२१॥

शास्त्र का अध्ययन ।

भावार्थ—मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को साधुओं के आचार विचार का बोध करानेवाले शास्त्र का अनुक्रम से अभ्यास करना चाहिये । यह अभ्यास गुरु के समीप में रहकर सन्मानपूर्वक होना

चाहिये। बुद्धिमान जिज्ञासुओं को आचारशास्त्र के साथ साथ सत्य मार्ग का विशेष निश्चय करने के लिये तथा आत्मकल्याण करने के लिये तत्वज्ञान के प्रतिपादकशास्त्रों का भी अभ्यास करना चाहिये ॥१२१॥

गुरुकृपा।

विद्या सिद्ध्यति सद्गुरोः सुकृपया पीयूषकल्पया द्रुत,
गुर्वाज्ञावशवर्त्तितादिसुगुणैः सम्पाद्यते सा कृपा।
भक्त्या स्वार्पणरूपया त्वहरहः कृत्वा च सेवां गुरोः,
सम्पाद्या विनयेन सद्गुरुकृपा जिज्ञासुना श्रेयसे ॥१२२॥

गुरुकृपा।

भावार्थ—अभ्यासमात्र से विद्या की प्राप्ति नहीं होती किन्तु सद्गुरु की अमृतमय कृपा से सहज ही विद्या की प्राप्ति होती है। और यह कृपा गुरु की आज्ञापालनादि सद्गुणों से सम्पादन की जाती है। अत एव जिज्ञासु को चाहिये कि विनयपूर्वक इत्यादि देकर तथा परमभक्ति से प्रतिदिन गुरु की सेवा कर के गुरु का अनुग्रह प्राप्त करे ॥ १२२ ॥

वैराग्यपरिपाकः।

वैराग्यं क्षणिकं तु निष्फलमहो! नो योगनिर्वाहकं,
भाव्यं तेन सुनिष्ठितेन नियतं प्राप्तेन पक्वां दशाम्।
सत्सङ्गेन विरागधर्मकथया चैकान्तवासेन वा,
स्वाध्यायेन सुचिन्तनेन तपसा कुर्याच्च तन्निष्ठितम्॥

वैराग्य का परिपाक ।

भावार्थ—वैराग्य यदि क्षणिक है तो निष्फल समझना चाहिये क्योंकि उसमें संयम का निर्वाह नहीं हो सका, इस लिये वैराग्य परिपक्व तथा चरमसीमा को प्राप्त होना चाहिये । अतः मोक्षाभिलाषी सत्पुरुषों की सङ्गति करके वैराग्यवर्द्धक धर्मकथाओं को सुनकर तथा एकान्त में रहकर शास्त्र स्वाध्याय आत्मध्यान तथा यथाशक्ति तप द्वारा वैराग्य को परिपक्व बनाना चाहिये ॥ १२३ ॥

वैराग्यपरीक्षा।

चित्तं यस्य न चञ्चलं विकृतिमद् दृष्ट्वाऽपि देवाङ्गना,
श्रुत्वा कण्टकतुल्यशत्रुवचनं क्षुभ्येन्न यन्मानसम् ।
धैर्यं मुञ्चति नो मनाग् बहुजनैर्यष्ट्या च यस्ताडितो-
ज्ञेया तत्परिपक्वता सहृदयैरेतैः शुभैर्लक्षणैः ॥ १२४

वैराग्य की परिक्षा ।

भावार्थ—सामान्य स्त्री की तो बात ही क्या ? [illegible] सुन्दर युवती स्त्री को देखकर भी चित्त में विकार न होना, [illegible] समान हृदयविदारक शत्रु के कठोर वचनों को सुनकर भी क्षोभ न होना, अनेक मनुष्यों से लाठीआदि द्वारा पीटेजानेपर [illegible] बनीरहना, चित्त का चचल न होना ये वैरागी के शुभ [illegible] सहृदय पुरुषों को इन्हीं लक्षणों से [illegible] चाहिये ॥ १२४ ॥

शिष्यलक्षणम्।

नम्रः कोमलमानसोऽतिसरलो लज्जाविवेकान्वितो-
निर्दम्भो निरहङ्कृतिर्निरलसः सौम्यः शशीव स्वयम्।
मज्ञावान् मितभाषकः सुचरितः श्रद्धायुतो यो भवे-
दौदास्यमुमुक्षुलक्षणपटुः शिष्यः स एवोत्तम ॥१२५॥

शिष्य के लक्षण।

भावार्थ—परिपक्व वैराग्य के साथ साथ जो शिष्य विनयवान् कोमल हृदयवाला सरलचित्त लज्जावान् और विवेकी है। छलरहित निरभिमानी आलस्यहीन और चन्द्रसमान साम्य आकृतिवाला है, बुद्धिमान् परिमित-भाषण करनेवाला सचरित्र अटल-धर्मश्रद्धावाला तथा उदासीनता आदि मुमुक्षु के लक्षणों से भूषित है उसे उत्तम-शिष्य समझना चाहिये ॥ १२५ ॥

गुरुलक्षणम्।

योगीन्द्रः श्रुतपारगः समरसाम्भोधौ निमग्नः सदा,
शान्तिक्षान्तिनितान्तदान्तिनिपुणो धर्मैकनिष्ठारतः।
शिष्याणां शुभचित्तशुद्धिजनकः संसर्गमात्रेण यः,
सोऽन्यांस्तारयति स्वयं च तरति स्वार्थं विना सद्गुरुः॥१२६॥

गुरुके लक्षण।

भावार्थ—जो मुनीश्वर श्रुत के पारगामी है, और समतारसके समुद्र में सदा मग्न रहते है, शान्ति और क्षमा गुणसे विभूषित है, इन्द्रियों का दमन करते हैं तथा धर्मआचरण में लीन है, जिन

समागममात्र से शिष्यों की मलीन चित्तवृत्ति शुद्ध हो जाती है। ऐसे सद्गुरु स्वयं संसारसमुद्र से पार होते हैं और बिना स्वार्थ के दूसरों को हस्तावलम्बन देकर पार करते हैं ॥ १२६ ॥

सम्बन्धिनामाज्ञा ।

पुत्रादिस्वजना कथञ्चिदपि ते स्वार्थेन मोहेन वा,
कुर्वन्ति प्रतिबन्धनं यदि यमे तत्प्रतिक्रिया नोचिता ।
तान् विज्ञाप्य मृदूपदेशवचनैः सन्तोष्य तन्मानस-
माशीर्वादपुरःसरा नियमतो ग्राह्या तदाज्ञा त्वया ॥१२७॥

कुटुम्बियों की आज्ञा ।

भावार्थ—ऊपर कहे अनुसार शिष्य और गुरु का योग मिलने पर दीक्षा का अधिकार प्राप्त होता है, किन्तु दीक्षा लेने के पहिले दीक्षेच्छु को कुटुम्बियों की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। यदि माता पिता और पुत्रादि कुटुम्ब के लोग स्वार्थवश तथा मोहवश दीक्षा में किसी प्रकार की रुकावट करते हों तो उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिये, किन्तु उन्हें कोमल उपदेश के वचनों से समझाना चाहिये, उनके मन को सन्तुष्ट कर के उनसे आशीर्वाद पूर्वक दीक्षा की आज्ञा प्राप्त करना चाहिये ॥ १२७ ॥

आज्ञाया अभावे भावसंयमः ।

नो शक्तो यदि गाढबन्धनवशो नेतुं परांस्तर्हि तु,
स्थित्वाऽसौ निलयेऽपि पापविरतो वैराग्ययुक्तस्तदा ।

स्वाध्यायादिपरायणः कमलवन्निर्लिप्तचित्तः सदा,
संसेवेत हि भावसंयममलं मुक्त्वा ममत्वं हृदः ॥१२८॥

आज्ञा न मिलनेपर भावसंयम।

भावार्थ—वैराग्य रहते हुए भी कुटुम्बीजनों के गाढ़ बन्धन से आज्ञा न मिलने पर यद्यपि वेष बदल कर द्रव्यदीक्षा नहीं ले सकता है, तो भी समस्त पापों का त्याग कर वैराग्ययुक्त हो अपने घरमें रहे, स्वाध्यायादि शुभ कामों में लीन रहकर जलकमल की नाईं सदा चित्त को निर्लेप रक्खे तथा हृदय से ममता को निकालकर भावसंयम का सम्यक्प्रकार सेवन करता रहे ॥ १२८ ॥

तृतीय परिच्छेद

संसारत्याग।

वैराग्यनिश्चयपूर्विका दीक्षा।

यावज्जीवमनुत्तमेन मनसा वैराग्यभावं दृढं,
निर्वक्ष्यामि पराक्रमेण सततं कस्मिन् प्रसङ्गेऽप्यहम्।
इत्येवं सति निश्चये दृढतरे त्यक्त्वा कुटुम्बं गृहं,
गन्तव्यं गुरुसन्निधौ मतिमता दीक्षां गृहीतुं पराम्॥१२९॥

वैराग्य का निश्चय होनेपर दीक्षा।

भावार्थ—जिस मुमुक्षु को ऐसा दृढ निश्चय हो जावे कि मेरे जीवनपर्यन्त वैराग्य के उत्तम परिणाम रहेंगे तथा विकट प्रसङ्ग

देशोऽग्राम यखिल जगत्तनुभृत सर्वेऽपि कौटुम्बिका,
* एव परिदर्शनाय जगतो वेष परावृत्यते ॥१३३॥

विमल्पि यम वा परिवर्तन ?।

भावार्थ— ग्रामा जैन के पहिले जो जाति कुटुम्ब परिमित देश ग्रामा ग्रामादि सेवक तथा सभी धर्मों के साथ ममत्व सम्बन्ध तथा वह सम्बन्ध अब तोड दिया है और समस्त ससार को अपना देश तथा ससार के प्राणियों को कुटुम्बी मान लिया है, ससार को यह बात दिखाने के लिये जाति और देशका वेष छोडकर साधुका वेष धारण किया जाता है ॥ १३३ ॥

चतुर्थ परिच्छेद

महाव्रत धारण और पापस्थान का परिहार।

अहिंसा सत्य प्रतिज्ञा।

जातेऽपि क्षुधया तपा परिभवे कुर्या न हिंसा मनाक्,
षट्कायाङ्गिषु त्रस्यचित्तनुभृत सङ्कल्पमात्रादपि।
यस्मिंश्चित् समयेऽपि दारुणतरे क्रोधेन लोभेन वा,
हास्येनापि भयेन नाऽनृतवचा ब्रूया न किञ्चित्त्वयम्॥१३४

अहिंसा और सत्य की प्रतिज्ञा।

भावार्थ—दीक्षा लेते समय निम्नोक्त प्रतिज्ञाएं की जाती हैं।
। भूख प्यास रोगादि प्राणान्त करने वाले सङ्कटों के आनेपर भी छह

काय के जीवों की हिंसा वचन और कायसे तो क्या ? सकल्पमात्र से भी नहीं करूगा न करवाऊगा और न करते हुए को अच्छा समझूगा, इस को अहिंसा प्रतिज्ञा कहते है । भयंकर समय आनेपर भी क्रोधसे लोभसे भयसे तथा हास्य से लेशमात्र असत्य न बोलूगा, न बुलवाऊगा और न असत्य बोलनेवाले की अनुमोदना करूगा, यह दूसरी सत्य प्रतिज्ञा है ॥ १३४ ॥

अस्तेय ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ।

तुच्छ वस्तु तृणादिक परतर वस्त्रादिक मूल्यवद्,
गृह्णीया न विनाऽऽज्ञया क्वचिदहो ! तन्नायकस्य स्फुटम् ।
मर्त्येणापि न मैथुन त्रिकरणैर्दिव्य च मानुष्यक,
सन्नद्धो नवभिश्च गुप्तिभिरहं देहावसानावधिम् ॥१३५॥

अचोर्य और ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ।

भावार्थ—तृणादि तुच्छ वस्तु हो चाहे वस्त्रादि बहुमूल्य वस्तु हो स्वामी की बिना आज्ञा कभी न ग्रहण करूगा, न करवाऊगा और न करते हुए को अच्छा मानूगा, इसी प्रकार देवसम्बन्धी मनुष्यसम्बन्धी तथा तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का मरणपर्यन्त न सेवन करूगा न करवाऊगा और न सेवन करनेवाले का अनुमोदन करूगा किन्तु ब्रह्मचर्यकी नौगुप्ति अर्थात नौ वाडना सदा आराधन करूगा ॥१३५॥

निष्परिग्रहप्रतिज्ञा ।

त्यक्त क्षेत्रगृह च रूप्यकनक धान्य कुटुम्ब धन,
०९९ परिग्रहश्च निखिलो नेच्छेयमेन पुनः ।

करूंगा। ३। माया सहित असत्यको तथा मिथ्यात्वरूप महाशल्यको जडसे उखाड दूंगा॥ १३९॥

अष्टादशपापपरिहारप्रतिज्ञा।

इत्यष्टादशसङ्ख्यकानि कलुषस्थानान्यहं सर्वथा,
सेवेयापि न सेवयेय मनसा वाचा तथा कर्मणा।
जानीयां न वरं निरीक्ष्य नितरां संसेवमानं परं,
त्वत्साक्ष्येण गुरो! कृपाऽमृतनिधे! कुर्वे प्रतिज्ञामिमाम्॥१४०

अठारहपापोंके त्यागकी प्रतिज्ञा।

भावार्थ—ऊपर बताये गये हिंसासे लेकर मिथ्या व पर्यन्त अठारह पापोंका मैं सर्वथा मन वचन और कायसे कदापि सेवन नहीं करूंगा, दूसरेको सेवन नहीं करवाऊंगा और दूसरेका सेवन करते हुए देखकर भला नहीं मानुंगा। दयामृतके सागर गुरुमहाराज! आपकी साक्षीसे मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ इसको जीवनपर्यन्त पालूंगा॥१४०॥

पञ्चम परिच्छेद॥

समितिप्रकरणे
सप्तमवीजोद्गम।

उप्त हृद्भूमि [illegible] प्रतिज्ञामय,
[illegible] नो भवेत्।

संयमबीजकी उत्पत्ति।

भावार्थ—गुरु के समक्ष शिष्यकी की गई प्रतिज्ञा ही संयमरूपी बीज है। इस निर्मल बीजको शिष्यने अपनी हृदय भूमिमें बोया है, यदि इसका जलसे सिंचन न कियाजावे तो यह ठीक समय पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं करसकता, इसलिये गुरुकी दीगई शिक्षारूप जलसे सिंचन कर अभ्यासरूप क्यारीद्वारा इसकी सतत रक्षा करनी चाहिये जिससे यह बीज पत्ते डालियों आदिसे विस्तारवाला वृक्ष होकर इच्छित मोक्षफलको उत्पन्न करसके ॥ १४१ ॥

गमनविधि।

गन्तव्य न विना प्रयोजनमथो चारित्रिणा यत् क्वचित्,
स्वस्थाने निजयोगसाधनविधौ स्थेयं त्रिधा गुप्तिभिः।
आहारादिनिमित्तके तु गमने प्राप्ते समित्याऽनया,
गच्छेन्निम्नदृशा धरा युगमिता सम्यग् निरीक्ष्याग्रतः॥१४२॥

ईर्यासमिति—गमनविधि।

भावार्थ—दीक्षा लेनेके बाद चारित्रधारी विना प्रयोजन कहीं-पर न जावे, अपने स्थानमें योगका साधन करता हुआ मनोगुप्ति वच-नगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करे, मन वचन कायका पापसे गोपन करे। यदि आहारादि निमित्त बाहर जाना पडे तो ईर्यासमिति का साधन करताहुआ नीची दृष्टि रखकर आगे चार हाथ भूमिको देखता हुआ मार्गमें गमन करे ॥ १४२ ॥

• ना आ ना ग्ह अपने भागमें से वितरण करे। तपश्चात् अपना
भाग गरम हो या ठण्डा समभाव से आहार करे ॥ १५२ ॥

आहाराद्यसङ्ग्रह ।

यावन्मात्रमपेक्षते मधुकरीवृत्त्या हि तावन्मितं,
ग्रा ग अनेकगृहाग्नेन गृहिणा न स्यात्यथा न्यूनता ।
रात्रौ नाशनसङ्ग्रह समुचित क्रोशद्वयाद्वाऽपर-
मानीत न च युज्यते सुयमिना यामत्रयातीतकम् ॥१५३॥

आहारादि का सग्रह न करना ।

भावार्थ—भिक्षु प्रकार के भोजन में जितना चाहिये उतना
ही आहार अनेक घरों में घूमकर मधुकरी वृत्ति से थोड़ा२ लेवे।
जिस प्रकार मधुकर अर्थात् भौंरा अनेक पुष्पों से थोड़ा २ रस लेता
है किन्तु पुष्पों को कष्ट नहीं पहुँचाता ठीक इसी प्रकार संयमी अनेक
गृहस्थों के घर से थोड़ा२ आहार पानी लेवे। जिस से गृहस्थों को
कोई कष्ट न हो। दिन में लाया हुआ भिक्षा का अन्न दिनमें ही
समाप्त करदे रात्रि में वासी न रक्खे। दो कोश उपरान्त से लाये हुए
तथा तीन पहर बीतने के बाद का आहार को काम में न लावे ॥१५३॥

वस्त्रादिग्रहणविधि ।

वस्त्रादिग्रहणैषणाऽपि बहुशो रीत्याऽन्यया शोभना,
नैतेषामपि सञ्चय समुचित कालादिमानाधिक ।
स्त्रीपुंसादिनिवासमङ्गरहित स्थान मुनीना वर,
ग्रामे वा विपिने सुखासनकृते शौच्य समित्या सता ॥१५४॥

वस्त्रादिक लेने की विधि ।

भावार्थ—भिक्षु आवश्यक वस्त्रादिक भी प्राय पूर्वोक्त रीति में दोष टालकर एषणासमिति पूर्वक गृहस्थ से लें । मर्यादा से अधिक वस्त्रादि का सचय करना अनुचित है । मुनियों के ठहरने का स्थान गृहस्थों के निवास और संग से अलग होना चाहिये वह स्थान गाँव में हो या वन में, स्वाध्याय ध्यानादि के लिये सुखकारी हो ऐसा योग्य स्थान मुनीश्वर एषणासमिति से देख शोध लें ॥ १५३ ॥

स्थानैषणाविधि ।

स्थानस्याधिपतेर्जनस्य नितरामाज्ञा विनैकक्षण,
स्थातु नोचितमात्मनिर्ग्रहवता स्थेय नियोगे ततः ।
यस्याज्ञानिलयस्य तस्य किमपि ग्राह्य न भोज्यादिकं,
स्थित्वा तत्र यथोचित न ममता स्वल्पाऽपि कार्या सता॥१५४॥

स्थान की एषणा विधि ।

भावार्थ—मकान के मालिक की आज्ञा बिना आत्मज्ञानी मुनि को एक क्षण भी ठहरना उचित नहीं, उस की पूरी आज्ञा मिलनेपर ही ठहरना उचित है । जिस व्यक्ति से मकान में ठहरने की आज्ञा ली है उस को शास्त्रों में शय्यातर कहा है । भिक्षु उस के घर का अन्न जल औषध आदि कुछ न ले । उस मकान में उचितकाल तक ठहरे, किन्तु उस में लेशमात्र भी ममत्व परिणाम न करे, अर्थात् प्रीति न करे ॥१५४।

वस्त्राद्यं निखिलं निजोपकरणं स्कन्धादिनोद्वाह्य स्वयं,
पादेनैव चरं विहारकरणं सन् यासिना श्रेयसे ॥१५९॥

साधुओं का पैदल विहार ।

भावार्थ—साधु ऊँट घोड़ा गाड़ी आदि सवारी पर नहीं बैठे । तथा बिना कारण नाव पालकी आदि पर भी न चढ़े । वस्त्र पात्रादि अपना सम्पूर्ण उपकरण मजूर आदि से नहीं उठवावें, अपने कन्धेपर उठाकर पैदल विहार करें । यह वृत्ति साधुओं के लिये कल्याणकारी है ॥ १५९ ॥

वस्त्रादादाननिक्षेपविधि ।

वस्त्रादेर्न च यत्र तत्र धरणं किन्तु व्यवस्थापुरो,
न्यासो योग्यपदे सदा यतनयाऽऽदानं पुनः कारणे ।
तत्सर्वं घटते विना न यमिनां सम्मार्जनं वीक्षणं,
तद्ग्राह्यं न्यसनीयमत्र सकलं सम्मार्ज्य दृष्ट्वा तथा ॥१६०॥

वस्त्रपात्रादि के उठाने रखने की विधि ।

भावार्थ—मुनि अपने वस्त्रादि उपकरण जहां कहीं न धरें, किन्तु व्यवस्थापूर्वक यतना से योग्य स्थान पर धरें और काम पड़ने पर यतना से उठावें । मुनियों को सब काम विना देखे विना झाड़े करना अयुक्त है, अतः एव सब वस्तुओं को देखकर और पूजनी से झाड़कर धरना उठाना चाहिये ॥१६०॥

वस्त्रादिप्रतिलेखनक्रिया ।

उद्युक्तो दिवसे सदा नियमतः प्रातश्च सायं यमी,
वस्त्रादेः प्रतिलेखनं विधियुतं कुर्याच्च सूक्ष्मेक्षया ।

स्थादेन यमरक्षण न च भवेत् सूक्ष्माङ्गिना हिंसन,
नाप्यालस्यनिषेधण निजतनो रक्षाऽलिसर्पादितः ॥१६१॥

वस्त्रादि के प्रतिलेखन की क्रिया ।

भावार्थ—दिन में दो वार प्रातःकाल और सायकाल सयमी उद्यमशील होकर विधिपूर्वक सूक्ष्मदृष्टि से वस्त्रादि का प्रतिलेखन करे। ऐसा करने से वस्त्रादि पर चढे हुए छोटे छोटे जन्तुओं की रक्षा होती है, अत अहिंसा सयम दृढ होता है अन्यथा जीवों की हिंसा होने से सयम का घात होना निश्चित है। तथा आलस्य दूर होता है, इतना ही नहीं बल्कि सर्प बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं से अपने शरीर की रक्षा भी होती है ॥ १६१ ॥

पट्टादौ शयनाशनम् ।

पल्यङ्के शयनासनादियमिना नैव क्वचिद् युज्यते,
नो वेत्रासनमञ्चिकादिषु पुनर्नैवापि खट्वादिके ।
पट्टे काष्ठमयेऽथवा क्षितितले दर्भादिसस्तारके,
साधूना शयनासन समुचित हन्तु प्रमादादिकम् ॥१६२॥

भूमि या पट्टे पर शयन ।

भावार्थ—सयमी पलङ्ग खाट आरामकुरसी मच आदि पर सोना बैठना न करें, किन्तु काठ के पट्टे पर भूमिपर या दर्भ घास आदि बिछाकर सोवे, बैठे, क्यों कि ऐसा करने से निद्रा तन्द्रा आलस्यादि दूर होते हैं ॥१६२॥

परिष्ठापनाविधि ।

त्याज्य यत्र मलादिकं तदपि वा स्थानं निरीक्ष्य पुरा,
सच्छिद्रं न जनाकुलं न यदि तन्निम्नं न वा नोन्नतम् ।
नो मार्गो न च देवताधिवसनं नो सूक्ष्मजन्त्वाचितं,
कार्यस्तत्र मलादिकस्य मुनिना त्यागः समित्या सदा॥१६३॥

मलमूत्रादि त्यागनेकी विधि ।

भावार्थ—साधुओं को जिस जगह मलमूत्रादि का त्याग करना हो उसे पहले देख शोध लेना चाहिये । जिस स्थानमें चींटी चूंहे आदि के बिल न हों, न मनुष्यों का अधिक आनाजाना हो । जो स्थान न बहुत नीचा हो और न बहुत ऊंचा हो, न मार्ग हो न देवताओं का निवासस्थान हो, तथा सूक्ष्म जन्तुओं से व्याप्त न हो। ऐसे स्थान में मुनियों को यत्नापूर्वक मलमूत्रादि का त्याग करना चाहिये ॥ १६३ ॥

षष्ठपरिच्छेदः ।

परिषहविजयः ।

क्षुधादिपरिषह ।

भिक्षायां न च लभ्यतेऽशनजलं शुद्धं कदाचित् क्वचिद्,
दैन्यं नात्र तृषं क्षुधं परिषहौ जेयस्तपोभावतः ।

ग्रीष्मे वा शिशिरे भवेत्परिषहस्तापस्य शीतस्य वा,
शौर्येणैव पराजयं किल तयोः कार्यो बलादात्मनः॥१६४॥

क्षुधाआदि परिषह।

भावार्थ—साधु को भिक्षा के समय कदाचित् निर्दोष अन्न जल न मिले और भूख प्यास की बाधा भी सताती हो उस समय साधु-दीनता न दिखावे, किन्तु इसे कर्मकी निर्जरा करनेवाली तपस्या समझ क्षुधा तृषा का परिषह पर पराजय प्राप्त करे। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में गर्मी का और शरदऋतु में ठंड का परिषह प्राप्त होनेपर शूरतासे तथा आत्मबल से इनपर विजय प्राप्त करे ॥ १६४ ॥

मशकादिपरिषह ।

क्वापि स्युर्मशकादयस्तदपि नो ग्लानिः सतां शोभते,
नो दैन्यं वसनाद्यलम्भजनितं कष्टेऽपि नैवारतिः ।
नो स्त्रीभिश्चलनं श्रमेण पथि नो रिच्येत चित्तं कदा,
स्थित्यैकाऽऽसनतश्चिरेण मनसो धैर्यं न मुञ्चेन्मनाक् ॥१६५॥

मच्छर आदिका परिषह ।

भावार्थ—किसी जगह डाँस मच्छर आदि का उपद्रव होता हो तो भी मुनिको इससे खेदखिन्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि ऐसी कायरता आत्मबली सत्पुरुषों को शोभा नहीं देती। किसी समय वस्त्रादि की प्राप्ति न होनेपर साधु दीनता न दिखावें तथा कष्ट आनेपर खेद न करे। एकान्त में स्त्रीसे परिचय होनेपर भी चलायमान न हों।

मार्ग में पैदल चलनेमें थकावट होनेपर चित्त में कभी खेद न मानें। स्वाध्याय ध्यान आदि के लिये बहुत काल तक एक जगह बैठे रहना पड़ता है, इससे घबराकर जरा भी धैर्य को न छोड़ किन्तु शूरवीरतासे उक्त परिषहों पर विजय प्राप्त करें ॥ १६५ ॥

शय्यादिपरिषह ।

नो प्राप्ता वसतिः शुभा तदपि नो चित्ते विषादोदय,
श्रुत्वाऽऽक्रोशवचोऽपि नैव सहसा शान्तो मुनिः कुप्यति।
नो द्विष्टे वधबन्धनेऽपि न तथा भिक्षाटने लज्जते,
नालाभे न गदोदये निजतनोश्चिन्ता विधत्ते पुनः ॥१६६॥

शय्या आदिकी परिषह।

भावार्थ—साधु विहार करता हुआ किसी गाँवमें पहुंचे और वहांपर ठहरने को सुभीते का स्थान न मिलनेपर वृक्षके नीचे ठहरना पड़े तौ भी साधु अपने चित्त में लेश मात्र विषाद न करे। कोई शत्रु मनमाने कठोर वचन बोले तथापि शान्तमुनि सहसा कोप न करे क्षमा धारण करे। कोई दुष्ट मनुष्य लाठी आदिसे मारने लगे या रस्सी से बांध दे तौ भी मुनि द्वेष न करे अपने कार्यमें लगा रहे। अपनी जाति या कुलका अभिमान कर गृहस्थ के यहां भिक्षा के लिये जाने में लज्जा न करे। किसी समय किसी वस्तु के नहीं मिलने पर या शरीर में रोग प्रकट होजानेपर हाय 'अब मेरा क्या होगा' मैं क्या करूं' ऐसी चिन्ता न करे किन्तु शय्या आसन आदि परिषहों को सहन करे ॥ १६६ ॥

तृणस्पर्शादिपरिषह ।

दर्भादौ शयनेऽपि संयमिमुनिः कुर्यान्न खेदं मनाग्,
नो ग्लानिं मलिनाम्बरादिभिरथो गर्वं न सत्कारतः ।
धीःस्फूर्त्तेऽपि मतेर्न माद्यति तथा मान्द्येऽपि नो खिद्यति,
मिथ्याऽऽडम्बरतो न मुह्यति पुनर्जित्वारिपूनान्तरान् ॥१६७॥

तृणस्पर्शादि परिषह ।

भावार्थ—शरीरमें चुभनेवाली डाभ आदि की शय्या पर सोनेसे संयमी मुनि किंचित मात्र खेद न करे। अपने वस्त्र तथा शरीर को मलिन देखकर मनमें ग्लान न करे। दूसरा से अपना बहुत आदर सन्मान होते हुए किंचित् लेशमात्र गर्व न करे। यदि बुद्धि तीक्ष्ण हो तो फूले नहीं, तथा बुद्धि मंद होनेपर शोक न करे। दूसरे लोगों के मिथ्या आडम्बरसे मोहित न हो किंतु रागादि अंतरङ्ग शत्रुओं को जीतकर संयम में स्थिर रहे ॥ १६७ ॥

सप्तमपरिच्छेदः ।

साधूनां दिनकृत्यम् ।

शेषे च गरणे निशोऽन्त्यचरणे स्वाध्याय आवश्यकः,
स्वाध्यायः प्रतिलेखनं च यमिना यामे दिनस्यादिमे ।

ध्यान याममित ततो मधुकरी यामे तृतीये पुन-
स्तुर्येऽपि प्रतिलेखन च पठन प्राप्त दिनात्यस्यम् ॥१६८॥

साधुओं की दिनचर्या।

भावार्थ—साधु रात्रिका एक पहर बाकी रहे तब उठे और उस समय स्वाध्याय तथा रात्रिका प्रतिक्रमण करे। इस के बाद दिन के पहले पहर में प्रतिलेखन तथा स्वाध्याय करे। दिन के दूसरे पहर में एक पहर तक ध्यान धरे। तीसरे पहरमें मधुकरी वृत्ति से भिक्षा आहारादि करे। चौथे पहरमें पढे[१] तथा प्रतिलेखन करे। और साय काल दिनका आवश्यक प्रतिक्रमण करे ॥ १६८ ॥

व्यर्थसमयाभाव।

स्वाध्याय' क्षणदेकयाममनघ ध्यान निशीथावधि,
निद्रैक महर ततो विधिरय सन्यासिना नैत्यक' ।
स्यादेतत्क्रमपालन यदि तदा कालोऽवशिष्येत नो,
साधूना विकथा-प्रलाप-कलहा-सूया-वितण्डा कृते॥१६९॥

समय व्यर्थ न खोना।

भावार्थ—सायकालका प्रतिक्रमण करलेने पर साधु रात्रिका पहला पहर स्वाध्यायमें और दूसरा पहर निर्मल ध्यानमें बिताये। इस प्रकार मध्यरात्रि बीतजाने पर एक पहर तक निद्रा ले। साधुओंका यह नित्यकर्म है। यदि उक्त प्रकार कर्तव्यका पालन कियाजावे तो

[१] पढना स्वाध्यायमें गर्भित है।

साधुओंको कुकथा, व्यर्थ भाषण, कलह, ईर्षा तथा वितण्डावाद करनेका बिलकुल अवकाश नहीं मिलसकता, अत एव समयका पूरा पूरा सदुपयोग करना चाहिये ॥ १६९ ॥

प्रमादविजयार्थं समयमर्यादा ।

यावत्पञ्चविधप्रमादविजयो न स्याद्गुणारोहणं,
तावन्नैव मुनेस्ततः प्रतिदिनं रुन्ध्यात्प्रमादाश्रयम् ।
तद्रोधाय तडागसेतुसदृशी बद्धा जिनेन्द्रैरियं,
मर्यादा समयस्य रात्रिदिनयो रक्ष्या च सा सर्वदा ॥१७०॥

प्रमादपर विजय पानेके लिये समयकी मर्यादा ।

भावार्थ—जबतक मद विषयकषाय निद्रा और विकथा इस तरह पांच प्रकारके प्रमाद पर विजय प्राप्त न हो तबतक गुणस्थानकी ऊपरकी श्रेणीपर चढ नहीं सकते, अतः साधु प्रमाद आस्रवको रोकनेके लिये पानी को रोकनेवाली तालावकी पाल के समान जिनेन्द्र भगवान्ने उपरोक्त समयकी मर्यादा बांधी है, उस मर्यादाका मुनि भले प्रकार पालन करे ॥ १७० ॥

कालक्रमोल्लङ्घनेऽपि कालमानस्यनोल्लङ्घनम् ।

देशाचारविशेषतो मधुकरी काले यदि व्यत्यय–
स्तत्रापि प्रहरद्वयं तनुकृते निद्राशनादिक्रिया ।
ध्यानार्थं परिपूर्णयामयुगलं स्वाध्यायसंसिद्धये,
रक्ष्यं यामचतुष्टयं मुनिवरैर्नो कालमानोत्क्रमः ॥१७

एवं शास्त्रविदग्रणीर्गुणमणि स्यात्पाठकोऽप्येकको-
नाचार्येण च पाठकेन रहितो गच्छो भवेच्छोभनः ॥१७४॥

आचार्य और उपाध्याय।

भावार्थ—गच्छ में साधुओंकी रक्षाके लिये जिसमें सबसे उत्तम साधुके गुण पाये जावें, तथा जो शास्त्रके रहस्य को जाननेवाला हो, सम्पूर्ण संघ मिलकर उस प्रभावशाली मुनिको संघके नायकपद पर स्थापन करे अर्थात् आचार्य बनावे। इसी प्रकार जो शास्त्रके ज्ञाताओं में अग्रेसर हो, तथा समता भाव आदि अनेक गुणोंसे भूषित हो, ऐसे एक उत्तम साधुको उपाध्याय-पद पर नियुक्त करे। क्योंकि आचार्य और उपाध्यायके बिना गच्छ शोभा नहीं पाता ॥ १७४ ॥

आचार्यपदयोग्यता।

सर्वेषां हितसाधने समदृशा शक्तिर्यदि स्यात्परा,
सम्पत्स्यात्सकलाऽपि शास्त्रविहिताचार्यस्य योग्योदिता।
ग्राह्यं सूरिपदं समुन्नततरं तेनैव मेधाविना,
नोचेदक्षमपि स्वयं हितधिया त्याज्यं विलम्बं विना ॥१७५॥

आचार्यपदकी योग्यता।

भावार्थ—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका इस चार प्रकार के संघको समान दृष्टिसे देखनेकी तथा सबका समान हित करनेकी जिस में पूर्ण शक्ति हो, तथा दशाश्रुतस्कन्धमें कहीगई आचार्य के योग्य समस्त प्रकारकी शक्ति विद्यमान हो, उसी प्रतिभाशाली पुरुष

को सघोंच आचार्यपद ग्रहण करना चाहिये। यदि ऐसी योग्यता न हो तो संघद्वारा दिया हुआ आचार्य पद भी समाजके हितके लिये विना विलम्ब के स्वय छोड़देना चाहिये ॥ १७५ ॥

आचार्यकर्त्तव्यम् ।

गच्छाचारसुपालन स्वयमलं गच्छव्यवस्थापनं,
भाविक्लेशनिदान बीजदहनं ज्ञानक्रियोद्धारणम् ।
धर्मोत्साहविवर्द्धन जगति सद्धर्मस्य सञ्चारणं,
सङ्घे स्वास्थ्यसमाधिसाम्यजननं कृत्यं हि सूरेरिदम् ॥१७६॥

आचार्यका कर्तव्य ।

भावार्थ—आचार्य स्वय शास्त्रमें कहे हुए आचरणको पालन करे, और अपने गच्छके साधु साध्वियोंसे भी निर्दोष आचरण पालन करावे। तथा गच्छकी पुर्ण व्यवस्था करे। भविष्यमें होने वाले क्लेश के चिह्न मालूम होने लगें तो तत्काल उसके मूल कारणको मिटा दे। ज्ञान और क्रियाकी पूर्ण वृद्धि करे। समाजमें धार्मिक उत्साह बढावे। तथा समाजके चारों कोनों में धर्मका प्रचार करे। संघमें स्वास्थ्य शान्ति तथा समभावकी प्रवृत्ति करे। यह सब आचार्यका कर्त्तव्य है॥१६६॥

उपाध्यायकर्त्तव्यम् ।

पाठ्याः पुत्रदृशा सदैव मुनयः सर्वेऽपि विद्यार्थिनो,
नो चौर्यं न च पक्षपातकरणं तत्त्वार्थपाठे कदा ।
सच्छैल्या पठनार्हशास्त्ररचना कार्या पुनर्नव्ययो—
पाध्यायेन विचक्षणेन समये स्वीये परस्मिंस्तथा ॥१७७॥

प्रायश्चित्त ।

भावार्थ—मूलगुण तथा उत्तरगुण में छोटा या बड़ा कोई दोष लगा हो तो साधु तत्काल गुरुके निकट जाकर अपने लगे हुए दोषों की आलोचना करे। गुरु के सम्मुख दोषों को साफ साफ कहे। दोष की शुद्धि के लिये गुरुमहाराज जो तप अथवा और कोई प्रायश्चित्त दें साधु उसको प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र पालन करे इसे प्रायश्चित्त तप कहते हैं, यह आभ्यन्तर तपका पहला भेद है ॥ १८३ ॥

विनय

मूलं धर्मतरोर्विवेकिभिरिह विनयः सप्तप्रकारो मतः,
सेव्यः सर्वविधोऽपि दर्शनगतो भेदो विशेषेण तु ।
उत्थानासनदानवन्दननमस्कारैश्च भक्त्यादिभि-
र्गुर्वादौ विनयः क्रियेत मुनिभिस्त्यक्त्वाऽखिलाऽऽशातना ॥ १८४ ॥

विनय ।

भावार्थ—धर्मरूपी वृक्षका मूल विनय है उसके सात भेद हैं, ये सब पालन करने योग्य हैं, तो भी इनमें दर्शन नामका भेद विशेष आदरणीय है। मुनीश्वर सम्पूर्ण आशातना को टालकर गुरु आदि बड़े पुरुषोंको आते हुए देख भक्तिपूर्वक खड़े होना, ऊंचा आसन देना, वन्दना और नमस्कार करना इत्यादि सत्कारद्वारा उनका भक्तिपूर्वक विनय करें ॥ १८४ ॥

वैयावृत्यम् ।

भिक्षाद्यानयनेन भारवहनोपाङ्गादिसम्बाधनै–
वैयावृत्यतपस्तपस्विभिरलं कार्यं श्रुतज्ञानिनाम् ।
एवं ज्ञानिभिरप्यभीष्टतपसा ग्लानत्वरोगोद्भवे,
भैषज्यानयनादिसाधनभरैः सेव्यास्तपोधारिणः ॥ १८५ ॥

वैयावृत्य ।

भावार्थ–तपस्वी साधु, श्रुतपरायण विद्वान् मुनियों को भिक्षा आदि लाकर देवें, विहार में उनका बोझा उठा लें, उनके हाथ पाँव दबावें, इत्यादि अनेक प्रकार सेवा भक्ति कर के वैयावृत्य नाम के तीसरे आभ्यन्तर तप का सेवन करें। इसी तरह ज्ञानी मुनीश्वर भी तपस्वियों की ग्लान अवस्था में तथा रोग प्रकट होनेपर औषध पथ्य भोजन आदि साधनोंद्वारा पूर्ण सेवा करके वैयावृत्य तप का पालन करें ॥ १८५ ॥

दशमपरिच्छेदः ।

स्वाध्यायप्रकाशः ।

शास्त्राणां किल वाचनं च मननं तद्बिन्दिध्यासनं,
स्मृत्यर्थं पठनं रहस्यसहितं तात्पर्यसंशोधनम् ।
शङ्काया गुरुसन्निधौ सविनयं पृच्छा तदुच्छेदनं,
भाषाज्ञानपुरस्सरं विनयिना स्वार्थं विना पाठनम् ॥१८६

छेदे प्राणगतेर्मनोगतिरपि छिन्नैव तस्या पुन-
र्विच्छेदे विषये सहेन्द्रियगतिर्नष्टैव सिद्धिस्ततः ॥१९३॥

प्राण और मनका सम्बन्ध।

भावार्थ—जबतक प्राणवायुकी गति नियमित नहीं होती है, तब तक मनभी स्थिर नहीं होता है। क्योंकि मन और प्राणवायुका दूधपानी की तरह घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये प्राणकी गति रुकजाने पर मनकी गतिभी रुकजाती है। और मनकी गति रुकजानेपर विषयोंमें इन्द्रियकी प्रवृत्ति हट जाती है। विषयोंसे इन्द्रियकी प्रवृत्ति के हट जानेपर सहज ही ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ १९३ ॥

प्राणायाम।

प्राणायाम उपाय एक उदितो ध्यानस्य संसिद्धये,
श्वासोच्छ्वासगतिच्छिदात्मकतया स्यात् पुनः स त्रिधा।
वायुः कोष्ठगतोऽतिमन्दगतितो निःसार्यते यद्बहिः,
सोऽयं रेचकनामको निगदितो भेदस्तदीयोऽग्रिमः ॥१९४॥

प्राणायामका पहला भेद-रेचक।

भावार्थ—ध्यानकी सिद्धिके लिये प्राणायाम एक मुख्य उपाय बताया है। श्वासोच्छ्वासकी गतिका रुकनाही प्राणायाम है। कोठे के अन्दर गये हुए वायुका अतिमन्दगतिसे धीरे धीरे बाहर निकालना रेचक नामका प्राणायामका पहला भेद है ॥ १९४ ॥

पूरककुम्भकौ।

प्राणाद्द्वादशकाङ्गुलस्थपवनं स्वाकृष्य यत्पूर्यते,
कोष्ठे पूरकनामकः स मुनिभिर्भेदो द्वितीयो मतः।
नाभावेव स पूर्यमाणपवनो यत्नेन यद्ध्र्यते,
सोऽयं कुम्भकनामकः सुविदितो भेदस्तृतीयः पुनः॥१९५॥

पूरक और कुम्भक।

भावार्थ—नासिकासे बारह अंगुल दूर पर रहनेवाली बाहरकी वायु खैंचकर जो कोठेमें भरी जाती है, उसे मुनियोंने पूरक नामवाला प्राणायाम का दूसरा भेद कहा है। तथा कोठेमें भरीहुई वायु को यत्न पूर्वक नाभिमें रोक रखना कुम्भकनामका प्राणायामका तीसरा भेद बताया है॥ १९४॥

प्राणायामफलम्।

प्राणापानसमानकप्रभृतयः पञ्चानिला देहगा,
स्तत्स्थानादिकनोधनेन मुनिना कार्यः शुभस्तज्जयः।
स्यात्प्राणादिजये शरीरमखिलं नीरोगमभ्यासतो-
हृत्पद्मं विकसेच्च सत्वरमलं साध्या भवेद्धारणा॥१९६॥

प्राणायामका फल।

भावार्थ—प्राण अपान समान उदान और व्यान ये पाच वायु शरीरमें होते हैं। इनका स्थान और स्वरूप जानकर मुनीश्वर उनपर विजय प्राप्त करें। क्योंकि प्राणादि वायुपर विजय प्राप्त

नीरोग होता है तथा अभ्यास करते करते हृदयकमल निश्चित होकर धारणा शक्तिकी शीघ्र पूर्ण-शुद्धि होती है ॥ १०६ ॥

भावप्राणायाम ।

बाह्यप्राणविशोधनं न सफलं स्यात्सर्वथा योगिनां—
मन्दारित हानिसम्भवोऽपि न ततोऽस्यात्स्यादरः शोभनः ।
तस्यक्त्वा बहिरात्मभावमखिलं भावं निपूर्यान्तरं,
स्यात्कुम्भः परमात्मभावशिखरे ध्यानाद्गमेतद्वरम् ॥१०७॥

भाव प्राणायाम ।

भावार्थ—द्रव्य-प्राणायामसे शरीरादि बाह्यप्राणकी शुद्धि होकर रोगादि की निवृत्ति तो होती है, लेकिन आत्मध्यानी योगियोंको इसे पूर्ण सफलता नहीं समझनी चाहिये। तथा द्रव्य-प्राणायामकी विधिमें थोड़ीसी न्यूनाधिकता होनेपर हानिकी सम्भावना भी रहती है। इस लिये इसका अति आदर करना योग्य नहीं। किंतु भावप्राणायामका स्वरूप समझकर उसका आदर करना योग्य है। भावप्राणायाम में बहिरात्मभावको रेचन अन्तरात्मभावको पूरक
कुम्भक करना चाहिये। यह भाव प्राणायाम
है ॥ १०७ ॥

यावद्धारति प...
स्याच्चित्तं मलिन ...

अनावश्यक इन्द्रियार्थविजयश्चित्त विधातु स्थिर,
प्रत्याहार उदाहृतोऽयममलो योगस्य सत्साधनम् ॥१९८॥

प्रत्याहार।

भावार्थ—जबतक चचल इन्द्रिया बाहरके शब्दादि विषयों की तरफ दौड़ा करती हैं। तबतक चित्त मलिन होकर उनके पीछे पीछे बाहर भटका करता हैं। ऐसी अवस्थामें ध्यानकी सिद्धि होना असभव है। इसलिए मनको स्थिर करने के लिये विषयोंकी तरफ दौड़ती हुई इन्द्रियो को अपने वशमें करना चाहिये, इस को प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार योगका दोषरहित उत्तम साधन हैं ॥ १९८ ॥

धारणा।

नासाग्र हृदय मुख च नयन नाभिश्च भाल श्रुति-
स्तालु भ्रू रसना च मस्तकमिति स्थानानि योगस्य वै।
एषामन्यतमे स्थलेऽभ्यसनतश्चित्तस्य यद्बन्धन-
मेतल्लक्षणधारणाऽपि सतत सा या समाध्यर्थिभि ॥१९९॥

धारणा।

भावार्थ—नासिका का अग्रभाग हृदय, मुख, नेत्र, नाभि, ललाट, कान, तालु, भौं, जीभ, और मस्तक ये ग्यारह ध्यान अथवा धारणाके स्थान हैं। इनमसे किसीएक स्थानपर अभ्यासके बलसे चित्तको स्थिरकरना ही धारणा है। समाधिके इच्छुकों को निरन्तर अभ्यास कर उक्त धारणाकी सिद्धि करनी चाहिये ॥ १९९ ॥

जातेऽस्मिन् घनघातिकर्मविरहः संसारनाशस्ततो-
व्युत्सर्गे परिनिष्ठिते च सकले सर्वं हि निष्ठां गतम् ॥२२३॥

भावव्युत्सर्ग तप ।

भावार्थ—भावव्युत्सर्ग तप भी संसार कषाय और कर्मके भेदसे तीन प्रकार का है । इनमें से पहले पहल क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर कषाय का क्षय करना चाहिये । कषाय का क्षय होनेपर चार घातीकर्म का नाश होता है और कर्म का नाश होते ही संसारका भी नाश हो जाता है । इसलिये व्युत्सर्ग-तप की सिद्धि को सकल कार्य की सिद्धि समझनी चाहिये ॥ २२३ ॥

ध्यानतपसोः फलैक्यम् ।

ध्यानं यानिजनस्य पाकसमये दत्ते शुभं यत्फलं,
दद्यादत्र फलं तदेव शमिनां पक्वा तपस्या ध्रुवम् ।
मध्ये यद्यपि भाति साधनविधौ भेदः कथञ्चित्तयो-
र्निष्ठायां तु तयोः फलैक्यकलनान्नास्त्येव भेदो मनाक्॥२२४

ध्यान और तप के फल की एकता।

भावार्थ—ध्यान करनेवाले महात्माओं को परिपाक के समय ध्यान जो शुभ फल देता है वही फल शान्तिपरायण तपस्वियों को परिपक्व हुई तपस्या भी देती है । यद्यपि मध्य में साधन के भेद से उन दोनों में किसी प्रकार भेद मालूम होता है तथापि परिणाम में एक ही फल प्रतीत होता है इसलिये इन दोनों में कुछ भेद नहीं है । ज्ञानाभ्यासियों को स्वाध्याय तथा ध्यान में समय व्यतीत करना चाहिये और तपस्वियों को तपस्या में का[illegible] [illegible]िये ॥२२

ग्रन्थकारप्रशस्ति ।

गच्छे स्वाम्यजरामरो दिनमणिर्लोकाभिधे विश्रुत-
स्तत्पट्टे मुनिदेवराजविबुधः श्रीमोनसिंहस्ततः ।
सूरिर्देवजिदाह्वयः श्रुतधरः पट्टे तदीयेऽभवत्,
स्वामिश्रीनथुजिद्गणी गुणखनिः शिष्यस्तदीयः पुनः॥२२५॥

ख्यातः स्वामिगुलाबचन्द्रविबुधः श्रीवीरचन्द्राग्रज-
स्तच्छिष्येण तु रत्नचन्द्रमुनिना कर्त्तव्यमार्गावहः ।
ग्रन्थोऽयं ख गजा-ऽङ्क-भू-परिमिते वर्षे शरत्पूर्णिमा-
सौम्याह्नि ग्रथितोऽथ राजनगरे पूर्णीकृतः श्रेयसे॥२२६॥युग्मम्

ग्रन्थकारप्रशस्ति ।

भावार्थ—लोकागच्छ के लींबडी-सम्प्रदाय में सूर्य के समान प्रसिद्ध पू० श्रीअजरामरजी स्वामी हुए । उनके पट्टपर पू० पंडितश्री देवराजजी स्वामी और इनके बाद पू० श्री मोनसिंहजी स्वामी उनके पट्टपर विराजमान हुए । इन के पट्टपर शास्त्रमें निपुण पू० श्री देवजीस्वामी, तत्पश्चात् इन के शिष्य गुणगणभरित पू० श्री नथूजीस्वामी हुए । उन के प्रख्यात-शिष्य पंडित-श्रीगुलाबचन्द्रजीस्वामी और इन के लघु भ्राता महाराज श्रीवीरजीस्वामी अभी विद्यमान हैं । पंडितश्रीगुलाब-चन्द्रजीस्वामी के शिष्य पंडित मुनिश्री-रतनचन्द्रजीने कर्त्तव्य मार्ग के दिखानेवाला यह कर्त्तव्य-कौमुदी नामके द्वितीय ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड विक्रम संवत् १९८० की आश्विन शुद्ध-पूर्णिमा बुधवारके दिन देश में प्रसिद्ध राजनगर अपरनाम अहमदावाद नगर में

विश्व	संसार
वैयावृत्य	सेवा
वैराग्यवर्द्धक	वैराग्य बढानेवाला
व्यवस्था	प्रबन्ध, इन्तिजाम
व्याधि	शरीरपीडा
शस्त्र	जो हथियार पकडकर माराजाता है, जैसे तलवार छुरी आदि
शास्त्रवेत्ता	शास्त्रोंका ज्ञाता
श्रमजीवी	मजूर
सतत	सदा
समभाव	समानपरिणाम, रागद्वेषका अभाव
समभावजनित	समभावसे उत्पन्न हुआ
सहृदय	उदार
संक्रमण	परिवर्तन, बदलना
संतप्त	संतापयुक्त, दग्ध
सम्पादन	प्राप्त
संसर्ग	परिचय, सम्बन्ध
संहार	नाश
साधन	पालन सिद्धि
सान्वय	सदाय
स्कन्ध	पेडका धड
स्मरण	याद
स्वचक्र	निजसेना
स्वदार-सन्तोष-वृत्ति	अपनी स्त्रीमेंही सन्तोष
हृदयविदारक	हृदयको छेदनेवाला
हस्तावलम्बन	हाथका,

विश्व	संसार
वैयावृत्य	सेवा
वैराग्यवर्द्धक	वैराग्य बढानेवाला
व्यवस्था	प्रबन्ध, इन्तिजाम
व्याधि	शरीरपीडा
शस्त्र	जो हथियार पकडकर माराजाता है, जैसे तलवार छुरी आदि
शास्त्रवेत्ता	शास्त्रोंका ज्ञाता
श्रमजीवी	मजूर
सतत	सदा
समभाव	समानपरिणाम, रागद्वेषका अभाव,
समभावजनित	समभावसे उत्पन्न हुआ
सहृदय	उदार
संक्रमण	परिवर्त्तन, बदलना
संतप्त	संतापयुक्त, दग्ध
सम्पादन	प्राप्त
संसर्ग	परिचय, सम्बन्ध
संहार	नाश
साधन	पालन सिद्धि
सावद्य	सदोष
स्कन्ध	पेडका धड
स्मरण	याद
स्वचक्र	निजसेना
स्वदार-सन्तोष-वृत्ति	अपनी स्त्रीमें सन्तोष
हृदयविदारक	हृदयको छेदनेवाला
हस्तावलम्बन	[illegible]